संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से
श्रमण संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के अनुशीलनार्थ त्रैमासिक पत्रिका

णाणसायर

(ज्ञान सागर)

अंक 2 अक्टूबर—दिसम्बर, 1989

सहयोग राशि एक प्रति दस रु०, वार्षिक . पैंतीस रु०,
तीन वर्ष · एक सौ रु० आजीवन · दोसौपचास रुपये

प्रकाशनार्थ सामग्री/सहयोग राशि भेजने एवं पत्र व्यवहार का पता :
विद्यासागर पब्लिकेशन्स, बी-5/263 यमुना विहार, दिल्ली-110053

संपादन/संचालन पूर्णत· अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

पत्रिका में व्यक्त विचार रचनाकारों के अपने हैं। इनसे सम्पादक/संचालक की नीतियों व विचारों का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संरक्षक मंडल

1 श्री सुमति प्रसाद जैन
विनोद ट्रेडर्स, कूचा महाजनी, दिल्ली-6

2 श्री राकेश कुमार जैन
701, कमानिया गेट, जबलपुर (म० प्र०)

3 श्री गुलाब चन्द्र दर्शनाचार्य
मदन जनरल स्टोर, जबलपुर (म० प्र०)

4 श्री डालचन्द्र भोलानाथ जी जैन
शकुन्तला निवास, महात्मा गांधी मार्ग, बोरीवली (पूर्व) बम्बई

5 श्री महेन्द्र कुमार मनीष कुमार जैन
139-140 दालमंडी, सदर-मेरठ (उ० प्र०)

6 श्री मूलचन्द्र सुनील कुमार जैन
123-124 स्वराज्य पथ, सदर-मेरठ (उ० प्र०)

7 श्री नरेन्द्र कुमार राठौड
राठौड ओरनामेंटस्, गुजरी बाजार, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

8 श्री सुमत प्रसाद जैन
वर्धमान ड्रग्स, दरीबा कलाँ, दिल्ली-6

9 श्री विनय कुमार जैन
जनता मेडिकल स्टोर, खेकडा-201101

10 श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन
6464 कटरा बडियान, दिल्ली-6

11 श्री अजीत समदडिया
समडिया आभूषण भंडार, सर्राफा, जबलपुर (म० प्र०)

12 डॉ० प्रेमचन्द्र जैन
कोसी कलाँ, मथुरा (उ० प्र०)

13 श्रीमती संयोगिता सुभाष जैन
B-306, गोमती अपार्टमेंटस्, बोरीवली (पश्चिम) बम्बई

14 श्री सुकुमार चन्द्र जैन
पन्नालाल नगर, बोरीवली (पूर्व), बम्बई

15 श्री ओमप्रकाश जैन
रघुछाया, एस० वी० पी० रोड, बोरीवली (पश्चिम), बम्बई

आचार्य श्री विद्या सागर उवाच

एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आकर कहने लगे—"महाराज जी! कुछ कृपा कर दो, जिससे काम चलने लगे। क्या काम आप करना चाहते है? मैंने पूछा—यही चलना, फिरना, भोजन-पान आदि। उन्होने कहा। इन कामो मे बाधा क्यो आती है? महाराज क्या कहू? मुझे दिखता नही है। कुछ जन्त्र-मन्त्र कर दो, जिससे दिखने लगे, उन्होने कहा। मैंने पूछा—'क्या अवस्था है आपकी? उत्तर मिला, महाराज! ज्यादा नही पिचासी की होगी।

उन महानुभाव की बात सुनकर मुझे लगा कि मानव जब जर्जर शरीर हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तब भी भोगोपभोग की आकाक्षा नही छोडना चाहता। इसीलिए नीतिकारो ने कहा है—

"यावत्स्वास्थ्य शरीरस्य, यावच्चेन्द्रिय-सम्पदः।
तावद्युक्त तप कर्म, वार्धक्ये केवल श्रम: ॥"

अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है, और इन्द्रिया अपना कार्य करने मे समर्थ है, तब तक आत्म-कल्याण के लिए कुछ कर लेना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था आयेगी, शरीर निश्चित ही शिथिल होगा और इन्द्रिया भी शक्तिहीन होयेंगी। उस अवस्था मे मात्र पश्चात्ताप ही शेष रह जायेगा।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शक्ति यदि प्राप्त हुई है, तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। भोगोपभोग सामग्री के इकट्ठे करने मे शक्ति को लगाना उसका दुरुपयोग करना है। ससार के अन्दर कोई अमर बनकर नही आया है। एक दिन सबको यथास्थान जाना है।

"विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।"

भाग्यवश कभी देव भी हो गया' तो वहा विषयो की चाह रूपी दावानल मे जलता रहा और अन्त मे माला मुरझाने पर इस प्रकार का सक्लेश करता है कि उस काल मे एकेन्द्रिय की भी आयु बाधकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और बनस्पतिकायिक मे उत्पन्न हो जाता है।

"तहते चय थावर तन धर्यो, यों परिवर्तन पूरे कर्यो।"

यह जीव कब-से परिवर्तन कर रहा है, और कब तक करता जायेगा, इसका ठिकाना नही है। यह निश्चिय समझिये देवो का आयु-बन्ध, भुज्यमान आयु के अन्तिम छह माह शेष रह जाने पर आठ-अपकर्षों के माध्यम से होता है। इसलिए देव को अन्तिम जीवन मे सावधानी बरतने से सकट से बच सकते है, परन्तु

कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यंच का आयु-बन्ध, भुज्यमान आयु के दो भाग निकलने पर प्रारम्भ होता है । जबकि इन मनुष्य-तिर्यंचो को इस बात का ज्ञान नही है कि मेरी आयु कितनी है और उसका तृतीय अश कब प्रारम्भ होने वाला है ? इस दशा मे तो उसे सदा सावधान ही रहना पड़ेगा अन्यथा असावधानी से खोटी आयु का बन्ध हो सकता है ।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जीवन क्षण-भगुर है । बिजली की कौंध के समान नश्वर है पर, मिथ्यादृष्टि सोचता है कि अभी क्या हुआ-अभी-अभी तो आया हू । कुछ भोगोपभोग का भी मजा ले लेने दो । पर वह यह सब सोचता ही रहता है । इधर जीवन की लीला समाप्त हो जाती है ।

हर एक व्यक्ति को धर्म-साधना के लिए अपना जीवन-क्रम निश्चित कर लेना चाहिए । इसके बिना वह लक्ष्यहीन हो भटकता ही रहता है । जो जीवन क्रम निश्चित कर घर मे कुछ साधना कर लेते है उन्हें आगे का मार्ग सरल हो जाता है । अभ्यास के बिना कार्य की सिद्धि होना सम्भव नही है ।

दक्षिण मे दशहरा का त्योहार होता है । खूब उत्सव मनाते है । उस समय लोग आपस मे सोना बाँटते हैं । यह सोना नही । एक वृक्ष के गोल-गोल पत्तो को वे सोना कहते हैं । उन्ही का आदान-प्रदान करते है । गेहू भी घर मे बोकर उगाते है । सात-आठ दिनो मे गेहूँ के पौधे बडे हो जाते हैं । पर, सूर्य की किरणो का प्रकाश न मिलने से पीले-पीले रहते हैं, जैसे टी वी के मरीज । आपके प्रदेश मे भी तो श्रावण-मास मे कजलियाँ निकालते है । लो जैसी होती हैं वे पीली-पीली अन्धकार मे रहने से उनमे वृद्धि तो अधिक हो जाती है, परन्तु सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता नही रहती । जो पौधे सूर्य किरणो के प्रकाश मे बोये जाते हैं वे हरे-भरे होते हैं और उनमे सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता रहती है । फल-फूल भी उन्ही मे लगते हैं, पीली पीली कजलियो मे नही । अत बाधाओ को सहन करने वाला, निरन्तर साधना करने वाला व्यक्ति ही अन्त मे सफल होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घर मे आग लगने पर कुआ खुदवाने से कोई लाभ नही होता, उसी प्रकार वृद्धावस्था मे धर्म का मार्ग अगीकृत करने लाभ नही होता । धर्म तो शरीर की शक्ति रहते हुए कर लेना चाहिए । जिस प्रकार युवावस्था की कमाई को मनुष्य वृद्धावस्था मे आराम से भोगता है, उसी प्रकार युवावस्था की धर्म-साधना का उपयोग वृद्धावस्था मे करता है ।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा है—

"रत्तो बधदि कम्म मुंचदि जीवो विराग-सपत्तो।
एसो जिणो वदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।"

अर्थात् रागी जीव कर्मों को बाधता है, और विरागी जीव कर्मों को छोडता है। यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। इसीलिए कर्मो मे रागी मत बनो।

भव्य-जीव विरागी होकर सत्तर कोडा-कोडी सागर की स्थिति वाले मिथ्यात्व कर्म को अन्त. कोडा-कोडी सागर की स्थिति मे ला देता है। इतना ही नही, उसे समाप्त कर सकता हैं। परन्तु अभव्य नही। अभव्य जीव को विशुद्ध-लब्धि नही होती, अर्थात् उस जाति की विशुद्धता मे वह देशना से लाभ नही ले सकता। गुरुओ की देशना को सुन लेना ही देशना-लब्धि नही है। पर उसके ग्रहण, धारण और अनुभव की शक्ति आ जाना देशना-लब्धि है।

बहुत पहले गृहस्थावस्था की बात है। एक बार एक सज्जन आकर बोले—जरा, हमारे घर चलिए। एक भाई को बडी वेदना हो रही है उसे सबोध दीजिए। मैं चला गया। जाकर देखा कि उसकी हालत मरणासन्न है। अत मे 'णमोकार-मन्त्र सुनाने लगा। वही खडा हुआ दूसरा व्यक्ति कहने लगा कि यह मर थोडे ही रहा है—जो आप 'णमोकार मन्त्र' सुना रहे हैं। मुझे लगा कि देखो ये रागी प्राणी धर्म-कर्म की बात सुनना चाहते है, जब उसमें सुनने-समझने की शक्ति भी शेष नही रह जाती थोडी देर बाद उस व्यक्ति का प्राणान्त हो गया। राम-नाम सत्य है, ही शेष रह गया।

दीपक जब से जलना शुरू करता है, तभी से बुझने लगता है। जितना तेल समाप्त हो जाता है, उतना ही वह बुझता जाता है। जब बिलकुल समाप्त हो जाता है, तब अन्धेरा ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार, इस जीव का अनुवीचि मरण प्रत्येक समय हो रहा है। यह जीव नवीन शरीर के परमाणुओ को ग्रहण करने के पहले ही अपनी एक दो अथवा तीन समय की आयु समाप्त कर चुकता है। तात्पर्य यह है कि जब मरण प्रति समय हो रहा है तो प्रति समय सावधानी बरतनी चाहिए।

बिजली ऊपर चमकती है। उसे देखने से लाभ नही, किन्तु उसके प्रकाश मे अपने पैरो के नीचे की भूमि को देख लेने मे लाभ है। हम लोग किसी का उपदेश सुनते है, पर उस उपदेश को सुनकर अपने आप की ओर नही देखते। काम तो अपने आपको देखने से सिद्ध होगा। जो वस्तु जहाँ है वही उसकी खोज करनी चाहिए।

एक बुढिया की सुई गुम गयी उसे अन्धेरे मे ढूढती देख किसी ने कहा—'माँ'! अधेरे मे क्या ढूढती हो, उजेले मे ढूढो। वह जहाँ उजेला था वहाँ ढूढने लगी। दूसरा आदमी आया, आकर पूछता है माँजी! क्या ढूढ रही हो? बेटा, सुई ढूढ रही हू, बुढिया ने कहा। कहाँ गुमी थी यह तो पता है? गुमी तो वहाँ थी पर ढूढ यहाँ रही हू। एक आदमी ने कहा—तो यहाँ ढूँढने से थोडे ही मिल जायेगी। बुढिया झुझलाकर बोली—एक कहता है उजेले मे ढूँढो और एक कहता है अधेरे मे ढूँढो। किस-किस की बात मानूँ। उस आदमी ने समझाया—कि जहाँ सुई गुमी है वहाँ उजेला लेकर ढूँढो तो मिलेगी, नही तो नही।

यह तो एक दृष्टान्त रहा। परमार्थ यह है कि हम लोग भी तो धर्म को कहाँ ढूढते है? तीर्थ स्थानो मे, ऋषियो के प्रवचनो मे, परन्तु धर्म तो हमारी आत्मा मे हे। उसकी उपलब्धि वहीं होगी मन्दिर आदि को उसका साधन बनाया जा सकता हे।

उदासीनाश्रम की बात एक दिन आया। परन्तु आज कोई व्यक्ति साधक उदासीन तो दिख नही रहा हे। हाँ आश्रम ही जरूर उदासीन दिख रहा है। मात्र मकान बनाकर खडा कर लेना उदासीना श्रम नही है। आप लोगो मे यदि उदासीनता आए तो उदासीनाश्रम अपने आप बन जायेगा। बोलो है कोई आप लोगो मे उदासीन बनने को तैयार? कोई नही!

भोगोपभोग की लालसा को घर में भी घटाया जा सकता है। पर, घटाया तब जा सकता है जब उसका लक्ष्य बनाया जाये, क्योकि लक्ष्य के बिना किसी भी कार्य मे सफल होना सम्भव नही।

अरे 'अणुव्रत' का धारण करना कोई कठिन नही है। लक्ष्य करो उस ओर तो अणुव्रत का पालन सरलता से हो सकता है। अणुव्रत का अर्थ होता है छोटा व्रत और 'अनुव्रत' का अर्थ होता है व्रत के पीछे लगना। अणुव्रत और अनुव्रत मे से जो शक्य हो उसे अवश्य प्राप्त करो और विरक्ति की ओर बढने का प्रयास करो।

"चरणम् अनुसरतव्यम्" चरणम् का अर्थ है चरित्र और उसका अनुसरण करना अर्थात् पालन करना। जिस चरित्र के माध्यम से वह अमूर्त्त द्रव्य भी प्राप्त हो जाता है, वह अनन्तात्मक द्रव्य कहा तक छिपा रहेगा? कहा तक अमूर्त रहेगा? साधना तो वह है जो साध्य का मुख दिखा दे। 'मूलाचार' ग्रन्थ मूल प्राकृतभाषा मे है। इस पर सकलकीर्ति आचार्य महाराज ने सस्कृत भाषा में टीका लिखी। इसमे कृतिकर्म का प्रसग है। अर्थात् साधु के करने योग्य कार्य का वर्णन है। इस ग्रन्थ मे आचार्यो ने पद-पद पर प्रत्येक गाथा में साधुओ को उनके

कर्त्तव्यों के प्रति इंगित किया है। जिन कर्त्तव्यो का पालन करके साधु-जन्म, जरा और मरण के दु खो से बचकर शीघ्र ही अनन्त सुख रूप मुक्ति का लाभ लेते हैं, और जो स्वभाव विभाव मे परिणत हो चुका था, उस स्वभाव को प्राप्त करके उस अमूर्त आत्म-द्रव्य का साक्षात्कार करते है।

साधु का पद महान् माना जाता है। अत बडे-बडे आचार्य भी उस साधु के लिए तीन सन्ध्याओ मे नमस्कार करते है, क्योकि मुक्ति का साक्षात् लाभ तो न आचार्य को है और न उपाध्याय को है। पर, मुक्ति को साक्षात् प्राप्त करने का अधिकारी तो मात्र साधु ही है। बडे-बडे महान् आचार्य भी जो उस साधु को नमस्कार कर रहे है, इसका मतलब यह है कि उनकी दृष्टि उस द्रव्य की ओर है, पर्याय की ओर नही। आचार्य, उपाध्याय और साधु मे वैसे साधु-पद की अपेक्षा कोई अन्तर नही है क्योकि सभी समान रूप से अट्ठाईस मूल गुणो का पालन करते है। दूसरी बात यह है कि साधु ही साधना के अन्तिम बिन्दु पर पहुचता है। इसलिए भी साधु-पद की महिमा बतायी गई है।

अध्यात्म और आचारपरक महान् ग्रन्थो को लिखकर आचार्यों ने हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। कल्याण करने के लिए दिशा-बोध दिये गये है, फिर भी उनकी उपेक्षा करके स्वार्थ-सिद्धि के लिए हम किस ओर खिचते चले जा रहे हैं। बडे-बडे शास्त्रो का अध्ययन करने के बाद भी अनुभूति के नाम पर हम कुछ नही कर पाये। स्मृति के माध्यम से बुद्धि का आयाम करके मात्र कोश बना लिया है दिमाग मे। ज्ञान कब हृदयगम होकर चरित्र मे उतरता है तभी उपयोगी होता है, अन्यथा नही।

गौतम स्वामी ग्यारह अग और नौ पूर्व के ज्ञाता थे, किन्तु यह सब बीज सम्यक्दर्शन के थे। सम्यक्दर्शन होने के पूर्व तक वे एक तापस, एक ब्राह्मण परिचालक थे, किन्तु उनमे अकुर लक्षण बहुत होनहार को लेकर थे। एक इतिहासकार का कहना है कि वर्तमान मे एक अग का अश मात्र ज्ञान शेष है। वह भी क्रमश क्षीण होता जा रहा है। वह इन्द्रभूति ब्राह्मण ग्यारह अंग और नव पूर्व के क्षयोपशम-ज्ञान की शक्ति लेकर चलने वाला था, मात्र पानी के सिंचन की आवश्यकता थी। ज्योही उसने महावीर के समवशरण को देखा त्योही मान गल गया और जो सम्यग्दर्शन शक्ति-रूप मे था वह प्रकट हो गया और वह सयमी बन गया। उसी प्रकार प्रत्येक भव्य आत्मा मे भी ऐसी ही शक्ति विद्यमान है, उसके क्षय, क्षयोपशम की आवश्यकता है और वह शक्ति उसे प्राप्त हो सकती है। उस शक्ति को प्रकट कर जीव अपने योग और उपयोग को शुद्ध कर सकता है।

वह योग पवित्र है। सयोग एक दो मे नही अनेक मे है। अनन्त का मिटना

मुश्किल कार्य है, वियोग भी दो के ही मध्य होता है। ससारी प्राणी सयोग और वियोग के पीछे पडा है। उसने योग कभी नही साधा। योग क्या चीज है ? सयोग और वियोग को भूल जाओ। योग पर दृष्टि रखो। योग मे न कोई सघटन है न विघटन, न कोई इष्ट-वियोग, न कोई अनिष्ट-सयोग होता है। जो कुछ होता है वह होता ही है। उसका दर्शक मात्र योगी होता है। जिसकी दृष्टि में पदार्थ का परिणमन मात्र है, उसे इष्ट-अनिष्ट का अनुभव कैसे होगा ? अकेले में क्या सयोग और क्या वियोग। जब योग शब्द पर लगे हुए 'वि' और 'सम' उपसर्ग हट जाते हैं, और 'उप' यानी निकट का सम्बन्ध लग जाता है तब वह योग उपयोग मे परिणत हो जाता है। अर्थात् सिर्फ साधक की परिणति उपयोगमय हो जाती है। अत हमारा तो सबसे यही कहना है—बन्धुओ! आज आप सभी लोग उपसर्ग, सयोग-वियोग इन सभी चीजो से हटकर अपने उपयोग का सही-सही उपयोग करो।

एक व्यक्ति ने कहा—मैं बहुत दुखी हू। मैंने पूछा—तुम्हारा दु ख क्या है ? वह बोला—मैं बडा बनना चाहता हू। मैंने कहा—यह शुभ बात है। किन्तु बडा बनना नही 'बडा' हू यह देखना है। बडे बनने की इच्छा छोड दो। बडा-छोटा ये कल्पना मात्र है। छोटी-बडी दिखती हैं तथा तुलना करने से अच्छे-बुरे की कल्पनाए जन्म लेती हैं। अत दूसरो को मत देखो। अपने आपको देखो। सब कुछ तैयार है, कुछ करना नही है। मात्र कल्पनाए करना छोड दो। कल्पनाए छोडना है और कुछ नही करना हे। यह कार्य साधारण नही। विषय-कषाय से युक्त प्राणियो के लिए यह कार्य असाध्य तो नही, पर, दु साध्य अवश्य है।

धार्मिक क्षेत्र मे प्रवेश पाने के लिए जो दोनो हाथो मे धन-सम्पत्ति का कचरा है उसे फेंक दो और दोनो हाथो मे दया, दान, सयम के साधन आदरपूर्वक लो। दोनो कानो से जिनवाणी को सुनो। आखो से भगवान् का दर्शन करना चाहिये। एक कान से ध्यानपूर्वक सुनकर दूसरे कान को बन्द कर लेना चाहिए ताकि बात निकले नही। हृदयगम हो जाये। सब चुप कोई नही बोलता :· ।

अनादिकाल से आत्मा की इस दीवार पर धर्म का कोई रग-रोगन तो किया नही अभी तक, और अब नया रोगन लगाना चाहते हैं। अध्यात्म एक प्रकार का रग है। इसका अलग ही रग है। जब तक दीवार पर पुराने रग का रग है, उसका निवारण नही होता, तब तक समझना—अभीष्ट वस्तु बहुत दूर है। □

सकलन . अशोक जैन

मूकमाटी : एक समीक्षा

□ डॉ० विमलकुमार जैन, दिल्ली

सन्त कवि, आचार्य विद्यासागर की काव्यकृति 'मूकमाटी' एक ऐसा रूपक महाकाव्य है जिसके प्रबन्ध कथानक मे, अध्यात्म इतनी चारुता से सपृक्त है तथा जिसका निर्वहण आद्यन्त इतनी कुशलता से हुआ है कि कही भी विशृखलता का आभास तक नही होता। इससे कवि की पारदर्शी दूरदृष्टि का परिचय मिलता है।

महाकाव्य मे सर्गबधता होती है। उसमे एक नायक होता है जो देव हो या क्षत्रिय, धीरोदात्त गुण-समन्वित तथा कुलीन होता है। शृगार, वीर एव शान्त रसो मे से एक अङ्गी रस होता है और अन्य रस अङ्ग रूप मे वर्णित होते है। कही-कही पर खलादि की निन्दा और सज्जनो की प्रशसा होती है। इनके अतिरिक्त इसमे सध्या, सूर्य, चन्द्र रजनी, दिवा, प्रदोपकाल, प्रात, मध्याह्न, ऋतु एव सागर, मुनि, स्वर्ग, पुर, अध्वर, रणप्रयाण, मत्र और पुनर्जन्म आदि का वर्णन होता है।

'मूकमाटी' काव्य मे प्राय ये सभी लक्षण विद्यमान है। यह काव्य सर्गबद्ध है। रूपक होने के कारण इसका नायक कुम्भकार रूप गुरु तथा माटी रूप मुमुक्षु आत्मा नायिका है। नायक धारीदात्त रूप से ही निरुपित है क्योकि आत्मा के अभ्युत्थान की प्रक्रिया मे वह कही भी धैर्य नही खोता तथा सभी के प्रति उदात्त-वृत्ति रखता है। नायिका भी तदनुकूला है। इसमे शान्त रस की प्रधानता है और शृगारादि शेष रसो का प्रसगानुकूल अकन है। इसका उच्च उद्देश्य ससार, सागर मे निमग्न आत्मा का उद्धार करना है। इसमे स्थान-स्थान पर खलो की निन्दा और सन्तो की प्रशसा भी है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का चित्रण सूर्य, चन्द्र, रजनी, दिवा, प्रातः, सध्या, ऋतु, सागर तथा रण, मुनि, मत्र और पुनर्जन्म आदि का बडा ही विशद चित्रण है, जिसका निर्देश हम प्रसगवश आगे करेगे। इन लक्षणो तथा रूपक-निर्वहण की पुष्टि के लिए हम इसके **कथानक** पर एक विहगम दृष्टि डालते है।

प्रथम खण्ड—रजनी का अंतिम प्रहर है, सरिता तमसावृत धरातल पर बही जा रही है। कुछ क्षण पश्चात् सूर्य की रक्तिम आभा उस पर विचित्र चित्र बनाती है। इसी समय प्रभूत काल से धरागर्भ में सुप्त किन्तु उद्बुद्ध माटी धरती से कहती है—मा ! मैं जन्म-जन्मान्तर से पतिता, पद्दलिता हू, इस पर्याय से मुक्ति चाहती हू। धरती ने कहा -"बेटी ! सत्ता शाश्वत है, प्रतिसत्ता मे उत्थान-पतन की असख्य सभावनायें रहती हैं। छोटा-सा वटबीज विशाल वृक्ष बन जाता है। इस प्रकार सत्ता ही शाश्वत होती है। रहस्य की इस गध का अनुपान आस्था की नासिका से होता है अत सर्वप्रथम आस्था-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति परमावश्यक है। 'जैसी गति वैसी ही मति' इस उक्ति के अनुसार साधक के बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान के निमित्त आस्था मूल कारण है। इससे साधक के मन मे स्वरातीत अनहद नाद का सरगम ध्वनित होता है।"

"साधक अपने को लघुतम जानता हुआ गुरुतम प्रभु को पहचानता है। असत्य के तथ्य की पहचान ही सत्य का अवधान है। आस्थाहीन का बोध पलायित हो जाता है और कषायें गुर्राने लगती है। अत आस्था की दृढता के लिए प्रति-कार, अनाचार, कषाय और रागद्वेष का त्याग अनिवार्य है। आस्थावान् यदि दमी, यमी और उद्यमी हो तो उसके आशा, धृति और उत्साह गुण उद्गत हो जाते हैं तथा आत्म विकास के लिए सघर्षमय जीवन हर्षमय हो जाता है।"

धरती के इस उद्बोधन से माटी को कुछ अन्त प्रकाश सा भासित हुआ। वह बोली—प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष के सकुचन से आत्मा मे सूक्ष्म परमात्मतत्त्व का बोध होता है तथा कर्मों का सश्लेषण और स्व-पर का विश्लेषण ये दोनो ही कार्य आत्मा मे ममता की समता रूप परिणति पर ही होते हैं। यही आस्था है।

धरती बोली—बेटी तू मेरे भाव तक पहुच गई। तेरा उद्धार समीप ही है। कुम्भकार (गुरु) आवेगा और यदि तू समर्पणशीला हो गई तो वही तेरा उद्धार करेगा। तदनन्तर रात-मिथ्यान्धकार-मे मिट्टी का चिन्तन चलता रहा रहा कि उपयोग—सद्ज्ञान और सद्दर्शन—से विवाद मे उल्लास, उद्वेग मे असग प्रकाश, कषायो मे मूर्च्छा और दोषो मे ह्रास आ जाते हैं, साधक पथिक अहिंसादि व्रतो को पालने लगता है, आचारो मे साम्य से साधक मे सप्रेषणीयता आ जाती है और सप्रेषणा से तत्त्वो—सात तत्त्वो—का ज्ञान होता है।

कुम्भकार (गुरु) आता है। वह स्थिरप्रज्ञ, अविकल्पी, हितमितभाषी तथा उदासीन है और कु=धरती (धरती के मनुष्यो) का भ=भाग्य+कार= विधाता है। उसने ओकार को नमस्कार किया, अहकार का वमन किया और

पुन कुदाली—कुशाग्रबुद्धि—से माटी के ऊपर की परत (अज्ञान की परत) हटाई और माटी के गालों पर घाव देखकर उनका कारण पूछा। मिट्टी ने खोदने वालों की निर्दयता और अपनी उदारता बताई। मिट्टी ने समझाते हुए कहा कि क्षति के बिना दृष्टि का साक्षात्कार नहीं होता, क्षति के बिना अर्थ का दर्शन सम्भव नहीं। तात्पर्य यह है कि क्षति ही पीड़ा की इति है और यह इति ही सुख का अथ है।

कुम्भकार ने मिट्टी को गदहे पर लादा। गदहे को जब पसीना आया तो मिट्टी ने उसमें मिलकर मानो मलहम लगाकर उसे सुख दिया। यह दयार्द्रता हृदय का स्मरण कराती है। दया का विलोम 'याद' भी इसी सत्य की ओर इंगित करता है। जैसे वासना का विलास मोह है, वैसे ही दया का विकास मोक्ष है। अतः वासना हेय है और दया उपादेय है। माटी की दया भावना को देख गदहा सोचने लगा कि क्या ही अच्छा हो कि मैं भी सार्थक नाम हो जाऊँ—गद=रोग+हा=नाशक अर्थात् परदुःखहारी बनूँ। इस विचार में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की ध्वनि गूँज रही है।

कुम्भकार (गुरु) का घर (धर्मस्थल) योगशाला है, जहाँ साधक को प्रशिक्षण मिलता है। घर लाकर उसने मिट्टी को उतारा और छलनी (विवेक) से छानकर कंकरों (विभावों) को पृथक् किया। इस पर कंकड़ों को आपत्ति हुई। कुम्भकार ने कहा—मृदुता और ऋजुता मेरे शिल्प को निखारती है, तुम कठोर हो और वर्णसंकरताजनक हो अतः मैंने तुमको माटी से अलग किया है। जैसे नीर क्षीर से मिलकर क्षीर बन जाता है परन्तु उसी क्षीर में विष मिल जाए तो क्षीर भी विष बन जाता है। तुम माटी में तो मिले पर माटी न बने। हिमखण्ड पानी में तैरता ही रहता है, पर मान का पोषक है। जल तरल है, ऋजु है अतः बीज को अंकुरित करता है पर हिम उसे जला देता है। हिम को इसी भूल में डालने से स्वाग और स्वरूप ही है। माटी को यदि कुम्भ बनना है तो मान छोड़कर विलोम करो अर्थात् मान—नमा बनो। इस भाँति मान से नम्र होकर ही जीव ढल सकता है।

बाधी और उसे बाहर निकाला। वहां मछली ने देखा था कि बड़ी मछलिया छोटी मछलियो को खा जाती है। ठीक भी है अग्न अग्न को काटता है, कृपाण मे कृपा नही होती। यहा मछली मिष कुम्भकार बड़ी ही मनोहर उद्भावनाए करता है—आधुनिक युग मे मानवता दानवता से तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना 'वसु एव कुटुम्बकम्' मे बदल गई है, इत्यादि।

मिट्टी ने मछली को समझाया कि बेटी ! यही तो कलियुग की पहचान है। सत् को असत् मानना ही कलियुग और सत को सत मानना सतयुग है। कलियुग की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और सतयुग की समष्टि पर। कलि शव है, सत शिव है। व्याधि से आधि और आधि से उपाधि भयकर है अत उपाधि इष्ट नही, समाधि ही इष्ट है। यह सुनकर मछली समाधि अर्थात् सलेखना ग्रहण कर लेती है और मिट्टी के कहने पर कुम्भकार उसे पुन कूप-जल मे उतार देता है।

द्वितीय खण्ड—शीत काल की रात है, शिल्पी (कुम्भकार) मिट्टी सानने मे व्यस्त है पर शरीर पर केवल एक चद्दर है। मिट्टी ने कहा—आप एक कम्बल तो ले लो। शिल्पी ने उत्तर दिया कि यह तो कम बल वालो का कार्य है, मैं तो शीतशील हू और ऋतु भी शीतशीला है। स्वभाव मे रहना ही मेरा धर्म है—'वस्तु स्वभावो धर्म '-पुरुष का प्रकृति मे रमना ही मोक्ष है।

मिट्टी मौन हो गई। प्रात हुआ और कुम्भकार मिट्टी को गूदने लगा तो कुदाली से क्षत-विक्षत हुआ एक काटा बदला लेने को उद्यत हो गया। तभी मिट्टी ने उसे उद्बोधित किया कि बदले मे आग होती है, जो तन-चेतन को जला देती है। यह सुनकर वही खडा हुआ गुलाब का पौधा बोला—काटे को बुरा न कहो, कभी फूल शूल बन जाते हैं और कभी शूल फूल। इन काटो से ही मैं सुरक्षित हू।

तत्पश्चात् शिल्पी ने जैसे ही मिट्टी को और अधिक मसला तो मिट्टी ने ससार का स्वरूप समझाते हुए कहा—'ससरीति ससार —ससार ससरण शील है, अत मैं चार गतियो और चौरासी लक्ष योनियो मे भ्रमण करती आ रही हू। मिट्टी से घडा बना और पुन उसे चाक से उतारा। उस पर अनेक अक तथा चित्र अकित किये, यथा— ९९, ६३, ३६, सिह-श्वान, कच्छप-खरगोश, ही—भी। इनसे उसने क्रमश ससारचक्र, सामजस्य, वैमनस्य, स्वतत्र-परतत्र, अप्रमाद-प्रमाद और एकान्तवाद (दुराग्रह) तथा अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का बोध दिया। कुम्भ पर ये वाक्य भी लिखे—'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम बने, 'मैं दो गला' अर्थात् मैं दोगला हू, मैं को गला दो।'

अब शिशिर मे ही बसन्त का अन्त होता है और निदाघ पदार्पण करता है।

यहा निदाघ और बसन्तान्त का क्रमशः बडा ही मनोज्ञ और उद्दाम वर्णन है। ऐसा लगता है कि कवि की लेखनी ने स्वय सरस्वती बनकर पत्रो पर ऋतुओ को उतार दिया है।

तृतीय खण्ड—वर्षा ऋतु आ गई है। जल धरा का वैभव लूटकर सागर मे ले गया है, जिसने उसका सग्रह कर लिया है। सग्रह ही परिग्रह है और परिग्रह मूर्च्छा है। सूर्य से जडधी जलधि का यह अन्याय देखा न गया और उसने उसके जल को जला कर वाष्प बनाना प्रारम्भ किया। इस विग्रह मे चन्द्र ने जल तत्त्व का पक्ष लिया और जलधि मे ज्वार ला दिया। धरती ने कृतघ्न समुद्र को क्षमा कर उसे मोती दिए। इससे चन्द्र और भी क्रुद्ध हुआ और समुद्र को प्रेरित कर तीन बदलियो को भिजवाया। यहा पर बदलियो का बडा ही मनोरम चित्रण है। वास्तव मे कवि ने बदलियो के मिष नारी के विविध रूपो का निरुपण किया है। नारी-नारी इसलिए है कि उसका कोई शत्रु नही हे और न वह किसी की शत्रु हे। मगलमय होने से वह महिला है। पुरुष मे अब=ज्ञानज्योति या अव= वर्तमान मे आशाए लाती है अत अबला है या इसलिए अवला है कि वह बला नही है। धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थो मे पुरुष का साथ देने से वह स्त्री है, प्रमातृ होने से माता है तथा उसमे सुन्दर भाव रहने मे सुता है।

बदलियो ने अपने उज्ज्वल पक्ष को पहचाना और समुद्र का साथ न देकर मोती बरसाये। कुम्भकार कही बाहर गया हुआ था। मुक्ता—वर्षा का समाचार सुनकर राजा सदलबल आ गया, उसने मोतियो को बोरियो मे भर लिया। बादलो को यह बुरा लगा, वे गरजने लगे, एक ध्वनि आई—अनर्थ, अनर्थ, अर्थ की उपलब्धि स्वय श्रम करके करो। सज्जन परद्रव्य को मिट्टी समझते हैं— 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। मोतियो (मोतियो के लाभ) ने बिच्छू बनकर सबको डस लिया, इसी समय कुम्भकार आ गया। उसने राजा से क्षमा मागी। अपक्क कुम्भ ने राजा से व्यग्य मे कहा— जलती अगरवत्ती को छूने से जल गये न, लक्ष्मण रेखा लाघने वाला दण्डित होता ही है। कुम्भकार ने उसे मौन का सकेत कर मोती भरी बोरिया राजा को देकर विदा किया।

जब बदलिया लौटने लगी तो सागर ने स्त्रीरूप होने से उन्हे 'चला' कह डाला। प्रभाकर को यह उक्ति बुरी लगी और उसने बडवाग्नि प्रज्वलित कर सागर को जलाना प्रारम्भ किया। सागर ने इसकी उपेक्षा कर तीन बादल भेजे कृष्ण, नील और पीत। ये तीन लेश्याये है। उन्होने प्रभाकर को आच्छन्न कर दिया। भास्कर ने प्रखर करो से उन्हे मारना प्रारम्भ किया। इस पर सागर ने राहु को भडका कर उसका ग्रहण करा दिया। प्रकृति विकल हो गई तो कण-कण ने मा धरती से निस्तार की प्रार्थना की। धरती ने कणो को प्रहार की आज्ञा

दी, कण प्रभजन बन गये। भूकण सघन होकर भी अध से अनघ रहे अत· घन भागने लगे। कण पीछे और घन आगे। सागर ने पुन और घन भेजे। प्रच्छन्न रूप से इन्द्र ने धनुप तानकर घनो का तन चीर दिया और विद्युत उत्पन्न कर वज्राघात किया, जिससे बादल रोने लगे पर जल कणो की मार मारते रहे। कुम्भकार स्थिरप्रज्ञ हो यह सब देखता रहा परन्तु गुलाब ने सखा पवन का आह्वान किया। वह आकर बादलो पर टूट पडा और उन्हे समुद्र पर ही धकेल दिया। इससे समुद्र पर ही ओले पडने लगे। इससे समुद्र शान्त हो गया।

आकाश धुल सा गया, सूर्य निकल आया और नवालोक हुआ। पर शिल्पी (गुरु) अनासक्त रहा। यह देख अपरिपक्व कुम्भ ने कहा—ठीक है, परीषह और उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि कभी नही हुई। कुम्भकार अपरिपक्व की यह बात सुनकर समझ गया कि साधक ठीक मार्ग पर चल रहा है और कुम्भ से बोला—तुम्हे अब अग्निधार पर चलना है। इस पर कुम्भ ने कहा—साधक की अन्तर्दृष्टि मे जल और अनल का भेद लुप्त हो जाता है तथा उसकी साधना-यात्रा भेद से अभेद की ओर बढती ही रहती है।

चतुर्थ खण्ड—कुम्भकार ने अवा बनाया और बबूलादि की लकडिया चिनी। अवा जलने लगा। निरपराध कुम्भ को जलाने मे लकडियो ने अन्य मनस्कता दिखाई तो कुम्भकार ने कहा कि इसको तपाकर इसके उद्धार मे मेरी सहायता करो, लकडियो ने सहयोग दिया और धूम निकला। कुम्भकार ने घुटकर कुम्भक प्राणायाम लगाया जो योगतरु का मूल है। उधर तपन और धूम से विकल कुम्भ को अग्नि ने ध्यान का स्वरूप समझाया तथा दर्शन और अध्यात्म का अन्तर बताते हुए कहा कि दर्शन का स्त्रोत मस्तिष्क है, अध्यात्म का हृदय, दर्शन सविकल्प और अध्यात्म निर्विकल्प ज्ञान।

कुम्भकार सो गया था। प्रात जब उसने अवा की राख हटाई तो कुम्भ को पका देखकर बहुत प्रसन्न हुआ क्योकि उसकी साधना सफल हुई। उधर कुम्भ भी स्वय को मुक्त हुआ जानकर प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि मेरा पात्रदान किसी त्यागी को होना चाहिए। यहा पर साधुओ के मूल गुणो का बडो ही दार्शनिक किन्तु मनोरम भापा मे प्रतिपादन हुआ है।

रात को एक सेठ को स्वप्न आया कि वह मगल कलश ले एक त्यागी का स्वागत कर रहा है। प्रात होते ही उसने कलश लाने के निमित्त सेवक को भेजा। सेवक कुम्भकार के समीप पहुचा और घट की याचना की। कुम्भकार ने ककड से घट को बजाया तो सा रे ग म प ध नि की ध्वनि निकली। मानो कह रहा था—सारे गम पध (पद अर्थात् स्वभाव) नही हैं अर्थात् दुख मेरा स्वभाव

नही। सेवक घट को ले आया। सेठ ने उस पर स्वस्तिक चित्र बनाया और मागलिक पदार्थो को सजाकर साधु की प्रतीक्षा करने लगा। जैसे ही साधु आया, उसने "नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्रतिष्ठ, अत्रतिष्ठ" कहकर अभिवादन किया और विधि के साथ आहार दिया। त्यागी ने भी कायोत्सर्ग करके पाणिपात्र मे आहार लिया। सेठ की प्रार्थना पर साधु ने सभी को उपदेश दिया कि यह दृश्यमान जगत मैं नही हू अत स्व मे लीन हो पुरुषार्थ करना चाहिए—पुरुष= परमात्मा+अर्थ=प्राप्तव्य है। यह कहकर साधु चला गया। सत सगति से वचित सेठ अत्यन्त खिन्न हो गया।

सेठ को विषण्ण देखकर कुम्भ ने उसे त्यागियो की महिमा बताकर आश्वस्त किया। सेठ को कुम्भ मे साधुता के दर्शन हुए। इससे स्वर्ण कलश को ईर्ष्या हुई कि इतने मूल्यवान कलशो के रहते हुए मिट्टी के घट का इतना सम्मान! तब मिट्टी के कलश ने उसे ताडते हुए कहा—तुम अपने को सवर्ण समझते हो पर तुम्हारी सगति से तो दुर्गति का मार्ग खुलता है, मा माटी को मान दो, यह तुम्हारी भी मा है। स्व-पर का भेद ज्ञान ही सद्ज्ञान है और स्व मे रमण करना ही सद्ज्ञान का फल है। विषयो मे रसिकता और भोगो की दासता ससार-बधन के कारण है। ऋषि भी माटी की शरण लेते है, इसी पर शयन करते हैं। इस प्रसग मे वही पर विद्यमान झारी, चम्मच, घृत, केसर आदि का नोकझोक पूर्ण वार्तालाप बडा ही मनोरजक है। सभी ने मिट्टी घट का उपहास किया।

रात को सोते समय खून का प्यासा एक मच्छर आया, उसने सेठ की प्रदक्षिणा की, कान मे मत्र भी जपा, तब भी कृपण ने कृपा न की। यह देखकर पलग मे विद्यमान मत्कुण ने कहा—सखे! चौको नही, ये बडे लोग है, स्वय के लिए ही सग्रह करते है पर हमको एक रक्त की बूद भी दान नही करते। कुछ देर दोनो मे बहुत ही रोचक किन्तु सारगर्भित सम्भाषण हुआ। सेठ उसे सुनकर प्रसन्न हुआ और अपने को प्रशिक्षित सा अनुभूत करने लगा। परन्तु रात मे नीद न आने से दाहज्वर हो गया।

प्रात काल वैद्य बुलाये गये। सबने परामर्श करके कहा—दाहज्वर है। उन्होने औषधियो से उपचार किए पर असफल। 'श स ष' इन बीजाक्षरो से भी उपचार किया अर्थात् इनको श्वास से भीतर ग्रहण कराकर नासिका से ओकार ध्वनि के रूप मे बाहर बार-बार निकलवाया। अन्त मे भू की शरण ली। भू की पुत्री माटी का टोप बनाकर सिर पर रखा, जिससे सेठ को सज्ञा आने लगी। उसके मुख से योगिगम्पा, मूलोद्गमा, ऊर्ध्वानिना पश्यन्ती के रूप मे नाभिकी परिक्रमा करती हुई ओकार ध्वनि निरक्षरा रूप मे उठी, जिसने मध्यमा को जाग्रत कर हृदय

मध्य को स्पन्दित किया। पुन. तालु, कण्ठ, रसना का आश्रय ले वही मध्यमा-वाणी वैरवरी बन कर निकली।

मिट्टी के उपचार से सेठ नीरोग हो गया और उसने पारिश्रमिक देकर वैद्यो को विदा किया। माटी का यह सम्मान देखकर स्वर्ण कलश मे प्रतिशोध की भावना पुन जगी, वह सोचने लगा कि कैसा कलियुग है जो झिलमिलाती मणिमालाओ, मजुल मुक्तामणियो, उदार हीरकहारो, शुक चोचो को लजाते गूगे से मूगो तथा नयनाभिराम नीलम के नगो को छोडकर मिट्टी के लेप से उपचार होता है, स्वर्ण रजतादि के पात्रो को त्यागकर इस्पात के बर्तनो का क्रय होता है, जिससे हथकडी और बेडिया बनती है और चन्दन, घृत एव कपूर को तिरस्कृत कर कर्दम का लेप किया जाता है। लोग सग्रह कर धनाढय बनते है और समाज-वादी कहलाते हैं। उसमे यह सोचकर अह जगा और उसने आतकवाद का आश्रय लिया। यह देख कुम्भ ने सेठ को सचेत किया और पीछे के द्वार से सपरिवार भाग जाने का सकेत दिया।

सेठ वन-उपवन की हरित वृक्षावलियो से जाता, सिंह-गजयूथो को अभय देता हुआ आगे बढ रहा था कि आतकवादियो ने आक्रमण बोल दिया। गजो और नागो ने उन्हे बचाया और आतकवादी भय से भाग गये। सहसा घनी घटाएं छा गयी, प्रचण्ड हवन प्रवहित हुआ, वृक्ष शीर्षासन करने लगे, मूसलाधार वर्षा होने लगी और सब जलमग्न हो गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् सब शान्त हो गया और सबने सोचा लौट चले परन्तु कुम्भ ने कहा—नही, अभी आतकवाद शेष है, नदी को पार करना है। मेरे गले मे रस्सिया बाधो और एक-दूसरे को पकड लो, मैं तुम्हे पार ले जाऊगा। ऐसा ही हुआ, वे नदी मे कूद पडे, मत्सस्य, माकर, कच्छप, सर्पादि ने उन्हे खाना चाहा किन्तु उनके मैत्रीपूर्ण भावो से जलचरो के भाव बदल गए। तब नदी ने उन्हे भवर मे फसाना चाहा पर कुम्भ का यह उपदेश सुनकर कि अरी पापिष्ठे! तू भी तो धरती का आश्रय लेकर बह रही है नदी को ज्ञान हुआ और वह शान्त हो गई।

आतकवाद निराश नही हुआ। उसने पत्थर बरसाये और ललकार कर कहा कि तुम समाजवादी हो, कहने से समाजवादी नही हो जाते। उसने जाल मे फसाना चाहा। अन्त मे देवो का आह्वान हुआ और उन्होने आतकवाद को परास्त कर सबका उद्धार किया। सेठ सपरिवार नदी से बाहर आया। वह हाथो मे कुम्भ ले उसी स्थान पर आया जहा से कुम्भकार ने मिट्टी खोदी थी। धरती ने पुत्र का अभ्युदय देखकर प्रसन्नता प्रकट की और कहा—पुत्र! तुमने मेरी आज्ञा मानकर कुम्भ का सत्सग किया, यह तुम्हारा सृजनशील जीवन का

आदिम सर्ग हुआ। उसके चरणो मे समर्पित भाव से जो अहं का उत्सर्ग किया वह द्वितीय सर्ग हुआ, पुन बडी कठोर परीक्षायें दी, यह तृतीय सर्ग और तुमने जीवन को ऊर्ध्वमुखी वनाया, यह जीवन का अन्तिम सर्ग हुआ तथा तुमने अपने को निसर्ग किया, यह जीवन का वर्गातीत अपवर्ग हुआ।

यह सुनकर कुम्भ नतमस्तक हो गया। इसी समय सभी ने एक पादप तले वीतराग साधु को देखा वे वहाँ गये, प्रणाम किया और पावन कलश जल से पादाभिषेक किया। सभी ने उपदेश की कामना व्यक्त की। साधु ने कहा—जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और वह मोक्ष, बन्धन के कारणभूत तन-मन-वचन का आमूल मिट जाना ही है। इसके पश्चात् जीव पुनः ससार मे नही आता, जैसे मन्थन के पश्चात् निकला मक्खन फिर दूध मे एकरूप नही होता। यह कहकर सन्त महामौन मे लीन हो गए। सवने देखा कि मूक माटी इस घटना को अनिमेष निहार रही है।

रूपक का निर्वहण—एक पदार्थ मे पर पदार्थ का रूप देखना या मानना रूपक है। शब्द वाक्य या वाक्यावलि मे रूपक का निर्वाह सहज होता है, परन्तु समूचे प्रबन्ध काव्य मे इसका निभाया जाना दुष्कर होता है तब तो और भी दुष्कर होता है जबकि कथानक वृहत् हो और उस पर भी अध्यायपरक जैसा कि उपर्युक्त कथानक से ज्ञात होता है।

मूकमाटी ऐसा ही एक अध्यात्मपूर्ण रूपक महाकाव्य है, जिसमे माटी के मगल कलश रूप मे चरम विकास की कथा वर्णित है। कथा का प्रारम्भ सरिता तट पर निशावसान तथा उषागमन के समय युगयुगो से पतिता माटी के उद्धारार्थ ज्ञानोद्भास से होता है। सरिता ससार का प्रतीक है। माटी रूप आत्मा अनादि काल से कर्मपुद्गलो से आवद्ध है। निशा अज्ञान और उषा ज्ञान के प्रतीक हैं। जब भव्यात्मा मे अज्ञान का उपशम या क्षय होता है और ज्ञान की किरणे, प्रकाश फैलाने लगती है तो उसमे मुक्ति की कामना जागृत होनी है। माटी रूप आत्मा मे यही भाव जगा है।

'वह धरती मा से अपनी पर्याय से मुक्ति का साधन पूछती है। यहाँ धरती अन्तश्चेतना है, जो माटी रूप आत्मा को समझाती हुई प्रतिसत्ता के प्रतिकूल शाश्वत सत्ता को उद्भासित-ज्ञानोद्बुद्ध-करने के लिए कहती है और इसके लिए सर्वप्रथम आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपदेश देती है। इसके पश्चात् ही ज्ञान सम्यक् होता है। इससे साधक के मन मे स्वरातीत अनहद नाद गूजता है अर्थात् आत्मा स्वरूप को पहचानती है। यही सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मुक्ति का साधन बतलाती

है। आचार्य उमास्वामी मोक्षशास्त्र मे लिखते हैं—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग** ।

इस प्रसग मे धरती रूपी अन्तश्चेतना का उद्‌बोधन बडा ही तत्वगर्भित है। साधक को गुरुतम के ज्ञान के लिए लघुतम बनना होता है। सत्यावधान रूप आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव मे बोध लुप्त हो जाता है और कषाऐ-क्रोध मान, माया और लोभ—भडकने लगती है अत आस्था की दृढता के लिए प्रति-चार, अनाचार, रागद्वेष एव कषायो का त्याग कर तथा दमी-यमी बनकर उत्साह के साथ सत्पथ पर चलना होता है तभी आत्मविकास सभव है।

धरती रूप, अन्तश्चेतना के सम्बोधन से माटी रूप आत्मा को प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष के सकुलन, कर्मों के सश्लेषण और स्व-पर के विश्लेषण का रूप स्पष्ट हो जाता है। यह तभी होता है जब आत्मा मे ममता समता मे परिणत हो जाती है।

जब आत्मा के भावों मे यह परिणति आती है, तभी वह गुरु की शरण मे आती है। इस कथानक मे गुरु कुम्भकार है। वह स्थिरप्रज्ञ, अविकल्पी, हित मितभाषी तथा उदासीन है, मान को मार चुका हे। वह माटी रूप आत्मा की ऊपरी परत हटाता हे अर्थात् अज्ञान की प्रथम परत दूर करता है। कुम्भकार मिट्टी को साधना मार्ग रूप गदहे पर लाद कर अपनी योगशाला रूप धर्मस्थली मे लाया, उसे विवेक रूप छलनी से छाना तथा कँकड रूप विभावो-रागद्वेप-मोहादि-को पृथक् किया। इस प्रकार मिट्टी रूप आत्मा को शुद्ध करके कूप अर्थात् आत्म गहराई से जल निकालने के लिए कुम्भकार रूप गुरु ने ज्यो ही उलझन रूप रस्सी की ग्रथियो को खोला तो उसको अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। इसके लिए प्रथम स्वय निग्रथ स्थिति ग्रहण करनी पडी। उसने कूप रूप स्वीय अन्तरात्मा से जलरूप अनुकम्पा को उद्भावित किया। इस प्रक्रिया मे उसने मछली रूप एक अन्य भव्यात्मा को जलसमाधि रूप सलेखना दिलाई।

प्रात हुआ और कुम्भकार ने मिट्टी को साना कि कुदाली से विक्षताग कांटा प्रतिशोध के लिए उद्यत हुआ। मिट्टी ने उसे समझाया। यहाँ काँटा अहंकार का प्रतीक है और मिट्टी की बोधनवृत्ति विनय की। इस स्थिति तक मिट्टी रूप साधक मे इतना आत्म विकास हो गया है कि कुभकार रूप गुरू के द्वारा साधना को कठोर करने पर वह गुरू के समक्ष ससार का स्वरूप निरूपित करता है। यहाँ पर शिशिर, वसन्तान्त और निदाघ ऋतुओ के वर्णन मिष साधना काल के विविध परीषह आयामो का अकन किया गया है।

तदनन्तर वर्षा ऋतु का बडा ही सुन्दर वर्णन है किन्तु अध्यात्म पक्ष मे जलधि, न्द्र, बदली, बादल, राहु रूप विभावो तथा उत्पातो और सूर्य, धरती, वडवाग्नि, न्द्रधनुष तथा पवन रूप भावो तथा सदाचार वृत्तियो का द्वद्व-युद्ध रहस्यात्मक ोता हुआ भी अत्यन्त रूचिकर है । यह सब अनासक्त गुरु और साधक के ऊपर रीषह और उपसर्गो का निरुपण है। माटी रूप आत्मा कुम्भ रूप प्रबुद्धावस्था पहुंच चुकी है अत वह उदासीन गुरु कुम्भकार से कहता है—मान्यवर! रीषह उपसर्गो के विना स्वर्ग अपवर्ग की उपलब्धि नही होती। इससे गुरु मझ गया कि शिष्य मे ज्ञान वृद्धि पर है उसने उसे अग्निधर अर्थात् तपोमार्ग र चलने के लिए सचेत किया।

कुम्भकार रूप गुरु ने कुभ रूप ज्ञानोनन्त आत्मा को तपाने के लिए अवा नाया और उसने लकडिया चिन दी। यहाँ अवा कर्माश्रव को रोकने तथा बन्ध ो खोलने के लिए सवर एव निर्जरा का वलय है, अव मे प्रज्वलित अग्नि तप है 'तपसा च निर्जरा'',अर्थात् तप से निर्जरा होती है । कुम्भ भी अग्नि से तपता तभी मागलिक और मूल्यवान वनता है। कुम्भकार रूप गुरु जब अवा खोलता तो कुम्भ रुप प्रबुद्ध आत्मा को परिपक्व देखकर प्रसन्न होता है। उधर ीवात्मा को भी ज्ञान परिपक्व हो जाने पर आनन्द का अनुभव हुआ और ामना की कि मैं किसी साधु के पादाभिषेक का कारण बनूं।

कुम्भ रुप जीवात्मा को साधन मिलता है। यहाँ पर सेठ रूप श्रावक द्वारा ुम्भकार से उसे ग्रहण करने, साधू का सेठ के घर आहारार्थ आने, विधिपूर्वक ाहार करने, उनके चले जाने, कुम्भ का सम्मान होने, स्वर्ण कलश मे पुन. ईर्ष्या ागने और आतंकवादियो को भडकाकर उनसे आक्रमण कराने, सेठ के पलायन रने, नदी मे अनेक उपसर्गो के आने तथा अन्त मे नदी पार होकर वीतरागी के रणो का कलश जल से अभिषेक करने तक की कथा पूर्वानुसार भाव-विभावो के घात -प्रतिघात और उपसर्ग एव परीषहो के उत्पात की कथा है। यही स्थिति है जब माटी रूप परिष्कृत आत्मा पक्व कुम्भ रूप महान ज्ञानी के रूप को प्राप्त कर लेती है और पुन: वीतरागी के चरणो मे समर्पित होकर मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार समूचे काव्य मे रूपक इस प्रकार ग्रथित है, जिस प्रकार मुक्त-आत्मा मे सून। कथा का विस्तार अन्तिम खड मे कुछ लम्बायमान सा भासित होता है परन्तु भासता मात्र है, वास्तव मे है नही, क्योकि कथा मे कवि आत्मविकास की प्रक्रिया मे भाव-विभावो मे आने वाले सभी पक्षो को समाहित करना चाहता है और वह भी ऐसी शैली मे, जिसमे न प्रवाह मन्द पडे और न अप्रासगिकता आवे। वास्तव मे समस्त काव्य मे कथा के माध्यम से मुमुक्षु आत्मा के विकास

की चौदह स्थितियो का अंकन है, जिन्हे जैनदर्शन मे 'गुण-स्थान' कहते हैं।

इस रूपक मे समाजवाद और आतंकवाद का वर्णन आधुनिक प्रभाव को व्यक्त करता है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन से तात्पर्य जीवाजीवादि तत्त्वो के सम्यक् श्रद्धान से है। तदनन्तर ही परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञानो मे सम्यक्त्व आता है और तभी आत्मा स्व-पर का भेद जान आत्म-गुणो मे रमण करता है।

आत्म विकास की उत्तरोत्तर चौदह श्रेणिया है, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। सम्यक् श्रद्धान के साथ ही सम्यग्दृष्टि का उद्भाव होता है, जिससे मिथ्या भावो की तीन स्थितिया 1 पूर्ण मिथ्यात्व, 2 सम्यग्दृष्टि सस्कार समन्वित मिथ्यात्व तथा 3 मिथ्याभाव मिश्रित सम्यग्भाव की झलक—नष्ट हो जाती है और आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ को मारकर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह पापो से विरत होने की भावना करने लगती है। यह चौथी स्थिति है। पुन अप्रत्याख्यानी क्रोधादि कषायो का विनाश कर पाचवी स्थिति को ग्रहण करती है और वह उपर्युक्त पापो से अणु (लघु) रूप मे विरत होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह व्रतो का एक देश रूप मे पालन करने लगती है। यह श्रावक की स्थिति है।

छठवी श्रेणी से अट्ठाईस मूल गुणो से युक्त साधु चर्या प्रारम्भ होती है जो प्रत्याखानी कषायो को मारने से उपलब्ध होती है। इसमे अहिंसादि व्रतो का पालन तो करता है परन्तु प्रमाद की सम्भावना रहती है। सातवी श्रेणी मे सज्वलन क्रोध नष्ट हो जाता है, जिससे उसमे प्रमाद का अभाव हो जाता है, समन्वय और सामजस्य की भावना उद्गत हो जाती है, जिससे सभी मित्र दृष्टिगोचर होते हैं, शत्रु कोई नही। आठवे स्थान मे सज्वलन मान को मारने से विनय-नम्रता के भाव जाग्रत हो जाते है। नववे मे पहुचते ही माया विचलित हो जाती है जिससे ऋजुता आ जाती है, छल-कपट और दम्भ के भाव पलायित हो जाते हैं। अग्रिम दो स्थितियाँ ऐसी हैं, जिनमे प्रथम सज्वलन लोभ सूक्ष्म होता है, पुन उपशमित होता है। ग्यारहवी स्थिति वाला पुन मिथ्यात्व की ओर मुडता है परन्तु बारहवी वाला कषायो के पूर्णत नष्ट हो जाने से वीतरागी हो जाता है और पुन घातक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शानावरण, मोहनीय और अन्तराय—को नष्ट कर अट्ठारह दोषो से रहित अरिहन्त पद की तेरहवी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अन्त मे अन्तिम शुक्ल ध्यान मे लीन चौदहवी स्थिति मे आयु कर्म के साथ नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का विनाश कर ससार से मुक्त हो जाता है।

इस आत्म विकास की प्रक्रिया मे सवर और निर्जरा के साधनो का उपयोग करना पडता है अर्थात् पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावनाऐ बाईस परीषहो पर विजय, पाँच चारित्र और तपो द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आना रोककर आत्म प्रदेशो से बधे हुए पूर्व कर्मों का विनाश करना पडता है, तभी आत्मा कर्मों से मुक्त हो मुक्त कहलाती है।

इस कथा मे माटी रूप आत्मा के पूर्ण विकास मे जैन अध्यात्म की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया रमी हुई है। इस विकास मे अनेक बाधाऐं आती है तथा परीषह और उपसर्गों को सहना पडता है। वह सब कुछ प्रथम माटी रूप और पुन कुम्भ रूप जीवात्मा के साथ तथा उसके उद्धारक कुम्भकार रूप गुरु के साथ घटित हुआ है। परन्तु अहिंसा, सयम और तप रुप धर्म का पालन करते हुए उन्होने उन पर विजय प्राप्त की है।

कवि ने काव्य मे स्थान-स्थान पर विभिन्न पात्रो के माध्यम से उपर्युक्त अध्यात्म विषयो को इतनी आलकारिक कलित शब्दावलि मे अकित किया है कि काव्य-सौष्ठव के मिश्रण से वे रुचिकर और सुपाच्य हो गये है। वास्तव मे अध्यात्म योगी सन्त कवि की मानो यह अपनी ही गाथा है तभी काव्य का प्रवाह वक्र या खण्डित न हो सहज और अजस्त्र बहा है।

काव्य-सौन्दर्य—अनेक आचार्यो ने काव्य की विभिन्न परिभाषायें की है, यथा-रसमय वाक्य काव्य होता है, ध्वनिवत् वाक्य काव्य होता है--या ऐसे शब्दार्थ काव्य होते हैं, जो दोष मुक्त हो, गुण युक्त हो तथा प्राय सालकार हो इत्यादि। इस काव्य मे गुणवत्ता भी है, निर्दोषता भी, रसवत्ता भी है और अलकार भी। व्यजना-सौन्दर्य तो समस्त काव्य मे स्वय ही मुखर है। इस काव्य-सौन्दर्य का हम अत्यन्त सक्षेप मे दिग्दर्शन कराते हैं क्योकि इस विशाल काव्य मे इतने उदाहरण विद्यमान है कि यदि विस्तार से लिखा जाये तो वह स्वय एक ग्रन्थ बन जाय।

इसमे प्रसाद गुण तो सर्वत्र ही व्याप्त है। माधुर्य और ओज की कुछ पक्तिया यहा उल्लिखित है। निम्न पक्तियो मे माधुर्य की मुखरता द्रष्टव्य है—

प्रकृति के साथ
मलिन मन, कलित तन
बात करता वात है।
कल कोमल कामाली
लता लतिकाऐं
शिशिर छुवन से पीली पडती थी
पूरी जल जात है।

राहु-स्वीकृति हेतु सागर से निर्यात रत्नो की छटा और उनके वर्णन मे मृदुलता और मधुरता विसर्गत साकार हो गई है—

ऐसी हसती धवलिम हसिया
मनहर हीरक मौलिक मणिया
मुक्ता, मूगा माणिक छविया
पुखराजो की पीलिम पटिया
राजाओ मे राग उभरता
नीलम के नग रजतिम छडिया।

इसी प्रकार अनेक स्थानो पर वीर, भयानक और वीभत्स प्रसगो मे ओज का अकन भी उद्दाम रूप मे बिखरा पडा है। गडगडाते बादलो के नभमण्डल मे आगमन का एक दृश्य दर्शनीय है—

कठोर कर्कश कर्णकटु
शब्दो की मार सुन
दशो दिशाऐ बधिर हो गई
नभमण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल दलो मे डूब-सा गया
अवगाह प्रदाता अवगाहित सा हो गया।

गुणो के साथ-साथ काव्य मे अदोषता भी सौन्दर्य का हेतु होती है। इस काव्य मे मुक्त छन्द का व्यवहार हुआ है किन्तु आधुनिक काव्य के विपरीत इसमे कही भी स्वर, ताल और लय का अभाव नही है। सर्वत्र काव्य गुणो की सप्रेषणीयता विद्यमान है। छन्द मे गति है, प्रवाह है और है मसृणता। सभी रसो, ऋतुओ और प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन तथा यहा तक कि कथानक मे अध्यात्म के सश्लेषण मे दोष दृष्टिगोचर नही होते। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि छन्दोबद्ध काव्य मे अनेक दोष स्वय ही सिर उभारने लगते है, जैसे—शब्दालकार के दोष, छन्दोभग के दोष आदि। परन्तु यह मुक्तछन्द महाकाव्य होने के कारण इन दोषो से मुक्त है। व्याकरण दोष इसलिए नही है क्योकि कवि का भाषा पर ऐसा अधिकार है जैसा कि चतुर वैद्य का नाडी पर या कुशल खिलाडी का अनाडी पर। हा एक स्थान पर चन्द्र को धरती से दूर और भानु को निकट कहा है, जो वैज्ञानिक खोजो के प्रतिकूल है। सभवत यह जैनागमो के अनुसार वर्णित है।

विस्तार भय से हम यहा रसो के उदाहरण नही दे रहे हैं। उपर्युक्त पद्यो से श्रृगार, वीर और भयानक रसो का कुछ आभास हमे मिल रहा है।

जाय, मस्तक इसलिए नही क्योकि सन्त होने से पज्यपाद है। अनुलोमार्थ शब्दो का व्यवहार तो निष्णात कवि कुशलतापूर्वक करता ही है, किन्तु यहाँ तो शब्दो के विलोमार्थ भी इतने सटीक हैं कि हृदय हिल्लोलित हो जाता है, यथा—दया/याद, राही / हीरा, राख / खरा, नदी / दीन, मान / नमा (नम्र) आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ शब्दो की व्युपत्ति इस प्रकार की गई है या फिर तोड कर ऐसे भाव व्यक्त किए गए हैं कि मन चमत्कृत होता है, जैसे—कुभकार—कु=पृथ्वी+भ=भाग्य+कार=विधाता, गदहा—गद=पाप+हा=हन्ता, कृपाण—कृपा+ण (न), मैं दोगला—मैं+दोगला, मैं गला दो, नारी—न+अरी (अरि) अर्थात् जिसका कोई अरि न हो या जो किसी की अरि न हो, महिला=मगलमय, अबला—अब=ज्ञानज्योति को+ला=लाने वाली अथवा अ=न+बला, स्त्री—स=सहित+त्री (त्रि)=तीन पुरुपार्थों धर्म, अर्थ और काम—के सहित, माता=प्रमाता होने से, सुता—सु=अच्छाई का+ता=भाव इत्यादि स्त्री पर्यायवाची शब्दो की इन व्युत्पत्तियो से मातृजाति के लिए आदरभाव भी व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार कुछ अको से भी लोक प्रचलित भावो को प्रकट किया गया है—९९ से ससार चक्र, ६३ से सामंजस्य और ३६ से वैमनस्य आदि।

इसमे अनेक जैन और बौद्ध मत्र वाक्यो का उल्लेख भी प्रसगवश इस प्रकार हुआ है कि वे बलात थोपे से प्रतीत नही होते, जैसे 'णमोकारमत्र' 'खम्मामि खम्मन्तु मे', 'धम्म सरण गच्छामि', 'धम्मो दया विसुद्धो' आदि। आधुनिक काल पर व्यग्य करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाक्य को' वसुएव कुटुम्बकम्' कहा गया है।

लोकोक्ति और मुहावरो का प्रयोग अलकृत भाषा मे सहज ही होता है। इस काव्य मे भी इनका व्यवहार अत्यन्त मनोहारी रूप मे हुआ है। मुख पर ताला पडना, नाडी ढीली पडना, वेल कडवी और नीम चढी, भीतिविना प्रीति नही, क्षीर-नीर-विवेक, गागर मे सागर, बिन मागे मोती मिले, माँगे मिले न भीख, तरवार के अभाव मे म्यान का मूल्य ही क्या तथा पूत का लक्षण पालने मे—आदि अनेक लोकोक्ति एव मुहावरो ने इस काव्य मे चार चाँद लगा दिए हैं।

समूचे काव्य मे अलकार तो इतने भरे पडे है कि लगता है मानो मुक्तामणि माणिक्यादि रत्नजटित स्वर्ण-रजत के अलकारो से सुसज्जित कोई सर्वांग सुन्दर पुरुप ही अपने कलेवर की छटा छिटका रहा है। स्थान-स्थान पर प्रसगवश पात्रों के माध्यम से धर्म के अगो, जीवनादर्शो तथा नीति वाक्यो को व्याख्यात किया गया है और यह सब कवि के हृदय से सहज प्रस्फुटित सा जान पडता है।

(शेष पृष्ठ 34 पर)

महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में

—वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

यह महज इत्तिफाक नहीं, बल्कि एक बुनियादी हकीकत है कि महावीर का धर्म-दर्शन आज के सन्दर्भ मे सौ फीसदी घटित होता है। इसकी वजह यह है कि जैन द्रष्टाओ ने सत्ता की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमे चीजो की प्रतिक्षण की गतिविधि और प्रगति अत्यन्त अप-टू-डेट तरीके से समाहित हो जाती है। उन्होने कहा है कि 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्व।' यानी सत्ता एकबारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। अर्थात् उसमे प्रतिक्षण कुछ उत्पन्न हो रहा है, कुछ मिट रहा है, और कुछ है, जो सदा एक-सा, कायम रहता है। प्रतिक्षण जो उठ और मिट रहा है, वह पर्याय है, यानी चीजो का रूप है, और जो सदा एक सी कायम यानी ध्रुव है, वह चीजो का सत् है, अर्थात् सारतत्व है। मतलब यह हुआ कि गति और स्थिति के संयुक्त रूप को ही सत्ता कहते हैं।

इस तरह हम देखते है कि जैन-दर्शन ने वस्तु की हर क्षण की नित-नयी गति-प्रगति को सत्य के रूप मे स्वीकृति दी है। उसे महज मिथ्या-माया या प्रपंच कह कर टाला नही है। ठीक विज्ञान की तरह ही जैन दर्शन ने इस विश्व की तद्गत वास्तविकता यानी 'आब्जेक्टिव रियालिटी' को स्वीकार किया है। नतीजे मे यह हाथ आता है, कि जैनधर्म यथार्थवादी है, वास्तविकता-वादी है, वह कोरा आदर्शवादी नही है। जीवन से कटे हुए कोरे ऊर्ध्वमुख आदर्शवाद का इन्कार और ठोस यथार्थवादी जीवन-जगत की स्वीकृति आज के युग की एक लाक्षणिक विशेषता है। और यह विशेषता जैन-धर्म मे, सत्ता की मूल परिभाषा मे ही उपलब्ध हो जाती है।

दूसरी आधुनिक विशेषता, जो जैनधर्म मे मिलती है, वह है वस्तु के साथ व्यक्ति का एक यथार्थवादी सम्बन्ध। चीजें ठीक जैसी है उन्हें ठीक वैसी ही देखने-जानने को जैन द्रष्टाओ ने सम्यक् दर्शन कहा है। मतलब यह हुआ कि चीजों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण ही सम्यक्

उनसे सम्बन्धित होकर रागात्मक भाव हमारे मन मे उदय होता है, उसी से चीजो का मूल्य नही आँकना चाहिए। यानी चीजो पर अपने भाव या राग को आरोपित करके उन्हे न देखो। वे असलियत मे अपने आप जैसी हैं, वैसी ही उन्हे वीतराग भाव से देखो। चीज़ो पर अपने को लादो नही। तुम स्वय अपने मे रहो, चीज़ो को स्वय अपने मे रहने दो। स्वय अपने स्वभाव मे रहो, चीज़ो को अपने स्वभाव मे रहने दो। इसी तरह उनसे सरोकार करो, इसी तरह उनसे बर्ताव करो। यानी हमारा दृष्टिकोण चीजो के प्रति वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' हो, आत्म-लक्ष्यी या 'सब्जेक्टिव' न हो। इस प्रकार हमने यह देखा कि आज के युग की एक और सबसे बडी विशेषता वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण है, और वही जैन तत्त्वज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञान इसी दृष्टिकोण के ज्वलन्त परिणाम है।

जैन तत्वज्ञान को सावधानीपूर्वक समझने पर पता चलता है, कि उसमे जीवन-जगत का इनकार नही, बल्कि सहज स्वीकार है। जीवन-जगत् जैनी के लिए एक ठोस वास्तविकता है, और उसमे जीने वाले मनुष्य या प्राणी का आत्मा भी एक ठोस वास्तविकता है सो उनके बीच का सम्बन्ध भी एक ठोस वास्तविकता है। इस वास्तविकता को सही-सही देखकर, सही-सही जानना होगा। यानी जैन शब्दो मे कहे तो हमे जगत का सम्यक् दर्शन करते हुए उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना होगा। वस्तुओ और व्यक्तियो का सही दर्शन और सही ज्ञान होने पर ही, उनके साथ का हमारा सम्बन्ध-व्यवहार, सुलूक-सरोकार सही हो सकता है। इस सही सम्बन्ध-व्यवहार को ही जैन तत्वज्ञो ने सम्यक् चारित्र कहा है।

जैन धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है। यह मुक्ति कैसे पाई जा सकती है? तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति के शब्दो मे 'सम्यकदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' जीवन-जगत्, वस्तु-व्यक्ति को सही देखना, सही जानना, और तदनुसार उनके साथ सही व्यवहार करना—यही मोक्षमार्ग है। यानी विश्व के साथ व्यक्ति आत्मा का सम्बन्ध जब अन्तिम रूप से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय हो जाता है, तो अनायास ही आत्मा की मुक्ति घटित हो जाती है।

चीजो और व्यक्तियो के साथ जब हमारा सम्बन्ध वस्तु-लक्ष्यी और वीत-रागी न होकर, आत्मलक्ष्यी और सरागी होता है, तो वह रागात्मक तीव्रता विश्व मे सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म भौतिक पुद्गल-परमाणुओ को आकृष्ट करके, हमारी चेतना को उनके पाश मे बाँध देती है। इसी को कर्म-बन्धन कहते हैं। यानी राग और उसकी परिणति द्वेष, इन दोनो के आत्मा मे घटित होने पर वस्तुओ के साथ आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध भग हो जाता है, और उनके बीच कर्मावरण की

ओट खडी हो जाती है। जगत् के साथ जब मनुष्य का सम्बन्ध विशुद्ध वस्तु-लक्ष्यी यानी 'ऑब्जेक्टिव' या वीतरागी हो जाता है, इसी को जैन दृष्टाओ ने मोक्ष कहा है।

आत्मा के इस तरह मुक्त होने पर, उसके भीतर का जो मूलगत पूर्ण ज्ञान है, अर्थात् सर्व को सर्वकाल मे सम्पूर्ण जानने की जो क्षमता या शक्ति है, वह प्रकट हो जाती है। इसी को केवलज्ञान कहते हैं, अर्थात् एकमेव शुद्ध, अखण्ड, प्रत्यक्ष ज्ञान। केवलज्ञान होने पर लोक के साथ मनुष्य का एक अमर, अबाध, अविनाशी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन को गहराई मे समझने पर पता चलता है, कि वह जगत जीवन से मनुष्य को तोडने या अलग करने वाला धर्म नही हे। बल्कि जगत के साथ जीव का सच्चा और स्थाई नाता स्थापित करने की शिक्षा ही जैनधर्म देता है।

× × ×

महावीर के 1000 वर्ष बाद जिनवाणी के ग्रन्थ-बद्ध होने पर उसमे जो जैन धर्म का उपदेश मिलता है, उसमे प्रकटत कठोर सयम, वैराग्य और तप की प्रधानता हे। ऐसा स्पष्ट लगता है, कि जैनधर्म जीवन का विरोधी है, और उसका मोक्ष, जगत से पलायन हैं। इस अतिवाद को नकारा नही जा सकता।

यही भी स्पष्ट है, कि स्वय महावीर दीर्घ तपस्वी थे, और उन्होने निदारुण तपस्या का जीवन विताया था। पर वे तो तीर्थंकर यानी युगतीर्थ के प्रवर्तक और परित्राता होकर जन्मे थे। इसी कारण चरम तपस्या के द्वारा त्रिलोक और त्रिकाल के कण-कण और जन-जन के साथ तादत्म्य स्थापित करना उनके लिए अनिवार्य था। वे स्वय ऐमी मृत्युजयी तपस्या करके औरो के लिए, अपने युगतीर्थ के प्राणियो के लिए, मुक्ति-मार्ग को सुगम वना गए है और सबको अमरत्व प्राप्ति का सहज ज्ञान-मत्र दे गए है।

लेकिन वस्तुत उत्तर कालीन जिन-शासन मे जो अति निवृत्तिवाद का बोलबाला रहा, वह वैदिक धर्म के अति प्रवृतिवाद और भ्रष्टाचारी कर्म-काण्डो की प्रतिक्रिया के रूप मे ही घटित हुआ हे। फलत वैराग्य, तप और जीवन-विमुखता पर बेहद जोर आ गया है। नतीजा यह हुआ कि अल्पज्ञ आम जैन श्रावक और श्रमण इस तप-सयम के बाह्याचार को ही सब कुछ मानकर उसी से चिपट गए। इस प्रवृत्ति के कारण जैन दृष्टाओ की असली, मौलिक विश्वदृष्टि लुप्त हो गयी।

यह दृष्टि हमे भगवान् कुदकुदाचार्य के दृष्टि-प्रधान ग्रन्थ 'समयसार' मे यथार्थ रूप मे उपलब्ध होती है। यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि

महावीर के बाद भगवान् कुदकुद देव ही जिन शासन के मूर्धन्य और मौलिक प्रवक्ता हुए हैं। उनकी वाणी मे आत्मानुभूति का रूपान्तरकारी रसायन प्रकट हुआ है। उन्होने 'समयसार' मे स्पष्ट सिखाया है कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। तुम अपने स्वभाव मे रहो, वस्तु को अपने स्वभाव मे रहने दो। अपने स्वभाव को ठीक-ठीक जानो और उसी मे सदा अवस्थित रहकर सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान पूर्वक इस जगत् जीवन का उपभोग करो। यानी भोग का इनकार उनके यहाँ कतई नही है। मगर सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञानी होकर भोगो। तब तुम्हारा भोग बन्धन और कष्ट का कारण न होगा, बल्कि मोक्षदायक और आनन्ददायक होगा।

जो चीजो का सम्यक्दर्शी और सम्यक्ज्ञानी है, वही उनका सच्चा, सम्पूर्ण या निर्बाध भोक्ता हो सकता है। ऐसा भोग क्षणिक और खण्डित नही होता। वह नित्य और अखण्ड भोग होता है। उसमे वियोग नही, पूर्ण योग है, पूर्ण मिलन है। कभी कुछ खोता नही, सब सदा को पा लिया जाता है, सबके साथ हम सदा योग और भोग मे एक साथ रहते है। जो चीजो का मिथ्यादर्शी और मिथ्याज्ञानी है, वह उनका सच्चा और पूर्ण भोगता नही हो सकता। ज्ञानी वस्तुओ का स्वामी होकर उन्हे भोगता है। अज्ञानी उनका दास होकर उन्हें भोगता है। स्वामी का भोग मुक्तिदायक और आनन्ददायक होता है, दास का भोग बन्धनकारक और कष्टदायक होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म जीवन जगत् के भोग का विरोधी नही। वह केवल सच्चे और अखण्ड भोग की कला सिखाता है। आज का मनुष्य ऐसे अखण्ड और नित्य भोग के लिए ही तो छटपटा रहा है। अति भोगवादी पश्चिमी जगत अब क्षणिक और खण्ड भोग से ऊब गया है, थक गया है, विरक्त तक हो गया है। वह भोग छोडने को तैयार नही, मगर उसे अचूक और पूर्ण तृप्तिदायक नित-नव्य भोग की तलाश हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' मे उसी सच्चे सार्थक और पूर्ण तृप्तिदायक भोग की शिक्षा दी है। आज के भोग से ऊबे हुए, फिर भी परम भोग के अभिलाषी मनुष्य के लिए 'समयसार' एक चिन्तामणि जीवन-कुजी है।

परा पूर्वकाल मे राजर्षि भरत चक्रवर्ती और जनक ऐसे ही परम भोक्ता योगीश्वर हुए हैं। वे जगत् के विषयानन्द मे भी बेहिचक उन्मुक्त तैरते हुए पूर्ण आत्मानद मे मगन रहते थे। जैनधर्म ने ही नही, प्रथमत और अन्तत पूरे भारतीय प्राक्तन् धर्म ने यही शिक्षा दी है। बीच के ऐतिहासिक चक्रावर्तनो के कारण जो अतिवादी और प्रतिक्रियाग्रस्त वैराग्यवाद का प्रभुत्व हुआ, उससे भारतीय धर्म का मर्म ही लुप्त हो गया। आज के भारतीय जैन योगियो, चिन्तको और मनीषियो का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि हमारे धर्म के मर्म की सच्ची पहचान

वे आज के जगत के समक्ष प्रकट करे, और इस युग की भटकी हुई विपथगामी मानवता को सही दिशा-दर्शन प्रदान करे ।

महावीर ने कहा है कि वस्तु मात्र अनैकान्तिक है । यानी उसमे अनन्त गुण, धर्म, पर्याय एक साथ विद्यमान हैं । इसलिए वस्तु के अलग-अलग पहलुओ को अनैकान्तिक नजरिए से देखना चाहिए । वस्तु प्रतिक्षण गतिमान, प्रगतिमान और परिणमनशील है । उसमे प्रतिपल नये रूप, भाव और परिणाम पैदा हो रहे है, इसलिए कभी भी वस्तु के बारे मे अन्तिम कथन नही करना चाहिए । अपेक्षा के साथ ही, वस्तु के एक गुण, धर्म, भाव रूप विशेष का कथन करना चाहिए । वस्तु अनैकान्तिक है, तो उसका सच्चा दर्शन-ज्ञान भी ऐकान्तिक नही, अनैकान्तिक ही हो सकता है । इस तरह हम देखते हैं कि अनेकान्त दृष्टि ही जैनधर्म की आधार-भूत चट्टान है ।

आज का मनुष्य भी किसी अन्तिम कथन, या अन्तिम धर्मादेश का कायल नही । वह हर तरह की धार्मिक कट्टरवादिता से नफरत करता है। वह 'डायनामिक' यानी गतिशील है, और जीवन-जगत के गति-प्रगतिशील नजरिये को ही पसद करता है। जैनधर्म का अनेकान्त आधुनिक मानव-चेतना के उस 'डायनामिज्म' यानी गत्यात्मकता का सर्वोपरि दिग्दर्शक और समर्थक है ।

अनेकान्तिक वस्तु स्वभाव का सही दर्शन-ज्ञान पाकर, वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ सही सम्बन्ध मे जीवन जीने की कला सिखाने के लिए ही जैन द्रष्टाओ ने सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के आचार-धर्म का विधान किया है । सत्य यानी यह कि हम चीजो को सत्य देखे, जानें और सत्य ही कहे । अहिंसा यानी यह कि हर चीज को अस्तित्व मे निर्बाध और सुरक्षित रहने का अधिकार है । हम परस्पर एक-दूसरे को बाधा या हानि न पहुचाये हम खुद जिस तरह सुख-शान्ति से जीना चा ते है, उसी तरह औरो को भी सुख-शान्ति मे जीने दे । यानी सह-अस्तित्व जीवन की शर्त है । अचौर्य यानी यह कि सब वस्तुओ पर सबका समान अधिकार है और वस्तु मात्र अपने आप मे स्वतन्त्र है। परस्पर एक-दूसरे के कल्याणार्थ हम वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ विनियोग-व्यवहार करे। वस्तु-सम्पदा पर अधिकार करना ही चोरी है । जीवन जगत् की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, कि वस्तुमात्र सबकी सम्पत्ति रहे, और आवश्यकतानुसार सबको सब कुछ प्राप्त हो। सम्पत्तिवाद, पूजीवाद, अधिनायकवाद आदि आज की सारी व्यवस्थाए चोरी पर टिकी हुई है । अचौर्य की व्यवस्था लाने के लिए ही आज की सारी प्रजाए समाजवाद की पुकार उठा रही है। जैनधर्म के सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त मे आगामी सच्चे और स्थाई

समाजवाद की कुजी छुपी है ।

अपरिग्रह का अर्थ है कि मोह-मूर्च्छा मे पडकर, वस्तुओ और व्यक्तियो पर अधिकार न जमाया जाए। मनुष्य, मनुष्य और वस्तुओ के स्वभावगत स्वतन्त्र परिणमन को पहचाने, और स्वय भी स्वतन्त्र रहे तथा औरो की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। परिग्रह यानी प्रमादवश चीजो के अधीन होना और उन्हे अपने अधीन रखना। यह बन्धक और कष्टदायक है। परिग्रही वृत्ति से ही सम्पत्तिवाद, पूँजीवाद, सत्तावाद जन्मे है। परिग्रह को ही जिनेश्वरो ने सबसे बडा पाप कहा है। जिनेश्वरो के धर्म-शासन मे पूँजीवाद और अधिनायकवाद को स्थान नही। स्वतन्त्र मानववाद और सर्वकल्याणकारी समाजवाद ही जिनेश्वरो के अनुसार सच्ची और मोक्षदायक जीवन-व्यवस्था हो सकती है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अपनी आत्मा मे ही निरन्तर रमण करने और भोग करने की स्वाधीन सत्ता प्राप्त कर लेना। नर-नारी के योन-भोग और काम-भोग तन, मन, प्राण, इदियो के स्तर पर सर्वथा स्वाभाविक हैं और जायज हैं, पर आत्मा परम स्वतत्र है। बाहर के भोग-रमण मे रहते हुए भी, वह अपनी तृप्ति के लिए, इनकी गुलामी न स्वीकारे। हर नर-नारी के भीतर नर और नारी दोनो है। अपने ही भीतर बैठे रमण या रमणी को पहचान कर पा लेने पर, बाहर रमण करते हुए भी, हम एक-दूसरे के गुलाम या वन्धक होकर न रहे। अपने अपने आत्म मे स्वतन्त्र, निर्मोह, अबाध विचरे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य ही वीतरागी, आत्मरसलीन पूर्ण भोक्ता होने की परम रसवन्ती कला सिखता है।

इस तरह आप देखेंगे कि जैनो का पच अणुवती या महाव्रती आचार-मार्ग जीवन से पलायन करने या उसका विरोध करने की शिक्षा नही देता। वह जीवन जगत के पूर्ण भोक्ता और स्वाधीन स्वामी होने की पराविद्या हमे सिखाता है। क्या आज का मनुष्य, ऐसी ही किसी पराविद्या की खोज मे नही भटक रहा ? ये पथ-भ्रष्ट दीखने वाले, स्वैराचारी, स्वच्छन्दविहारी 'हिप्पी' वैभव और सुरक्षा की गोद को ठुकराकर उसी पराविद्या की खोज मे निकल पडे हैं। वे अधेरे मे भटक रहे हैं वेशक, मगर सच पूछो तो वे अनजाने ही परम लक्ष्य से चालित हैं, यानी वे मनुष्य की असली स्वतन्त्रता के मुतलाशी है। जैनधर्म के अनुसार वे स्वभावतः अपनी मज़िल पर पहुचेंगे ही। क्योकि मजिल आखिर तो अपनी आत्मा ही है। और अपनी आत्मा से विछुड कर आदमी कब तक भटकता रह सकता है ? आखिर पराकाष्ठा तक भटक कर, वह अपने घर लौटेगा ही। इसी कारण जिनेश्वरो ने पाप को हौवा नही बनाया है। पाप के भय को उन्होने मूल मे ही काट दिया है। यानी आत्मा पाप कर ही नही सकता, वह उसका स्वभाव

नही। पाप है केवल अज्ञान। सही ज्ञान हो जाने पर आदमी आपो आप ही सही आचरण करता है। तब वह अनायास ही पाप से ऊपर उठकर, आत्मा का सज्ञान, निष्पाप जीवन जीता है।

× × ×

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म का ज्ञानमार्ग भी विश्लेषण-प्रधान है। इसी कारण यह कहा जा सकता है, कि ससार के सभी जीवित धमो मे जैन धर्म ही सबसे अधिक वैज्ञानिक है। उसका जीव-शास्त्र और कर्म-शास्त्र इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इतना अधिक वैज्ञानिक और तार्किक है जैनधर्म, कि मनुष्य की भावचेतना को तृप्त करने मे समर्थ नही हो पाता। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वरीय शक्ति का इनकार करके जैनधर्म ने भक्तिभाव के आधार को ही खत्म कर दिया। पर अपनी इस अतिवैज्ञानिकता और बुद्धिवादिता के कारण ही, वह आज के विज्ञानवेता मनुष्य को बहुत अपील करता है।

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म मनुष्य को स्वतन्त्रता देता है, कि वह किसी पूर्व मान्यता और अन्धश्रद्धा से विश्व-तत्त्व का निर्णय न करे। अपनी स्वतन्त्र तार्किक पूछ-ताछ, और वस्तु के अणु-प्रति-अणु तार्किक विश्लेषण द्वारा ही विश्व-तत्त्व की जाच-पडताल करे, और उसका स्वतन्त्र ज्ञानतमक साक्षात्कार करे। यह ध्यातव्य है कि हजारो वर्षों पूर्व जैन द्रष्टाओ ने जगत-जीवन का जो अन्तर-वैज्ञानिक साक्षात्कार किया था, वह क्रमश आज की वैज्ञानिक खोजो द्वारा अचूक प्रमाणित होता जा रहा है। इस प्रकार जैनधर्म आज के मनुष्य को वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा ही आत्मिक आस्था और अनुभूति तक ले जाना चाहता है।

× × ×

पश्चिम के दार्शनिक जगत् मे आज अस्तित्ववाद का बोलवाला है। यानी अस्तित्व मे जो दीखता है, वही सत्य है 'एग्जिस्टेन्स' मे होकर 'ईसेंस' मे पहुचना है। 'ईसेंस' को पूर्व मान्य करके 'एग्जिस्टेस' का फैसला नही करना हे। जैनो के यहां बारह अनुप्रेक्षा या भावना के द्वारा जो अस्तित्व और आत्मा का चिन्तन किया गया है, उसमे आज का अस्तित्त्ववाद सर्वांगीण अभिव्यक्ति पा जाता है। अनुप्रेक्षण बताता है कि मनुष्य की स्थिति यहा नित्य, अशरण, एकाकी हैं। वह अकेला है। अन्तत हम सब एक-दूसरे को अन्य यानी पराए हैं। शरीर अन्तत विनाशी और ग्लानिजनक तत्त्वो से भरा है।

अतः आत्मा की मुक्ति के लिए आवश्यक है, कि अनिष्ट बाहरी पुद्गल पर-

माणुओ को हमारे अस्तित्व को कर्म-बन्धन मे बाँधने से रोका जाए। अपने को समेट कर अपने सच्चे स्वरूप मे ही रहा जाए। इस प्रकार आत्म-सवरण द्वारा अपने मे स्वाधीन हो रहने पर पुराने बँधे जड कर्म के बन्धन आपोआप टूट जाते हैं। तब हमारे पूण ज्ञान मे लोक अपने सच्चे स्वरूप मे हमारे सामने प्रकट हो जाता है। उस स्थिति मे मनुष्य एक मुक्त पुरुष होकर लोक का पूर्ण ज्ञानपूर्वक नित्य भोग करता है। यही मोक्ष है।

साराश मे यही जैनो का अस्तित्ववाद है, और सभवत आज के अस्तित्ववाद दर्शन मे जहा भी गत्यावरोध है, वहा जैन दृष्टि अगला सही मार्ग मुक्त कर सकती है। यह ध्यातव्य है कि कार्ल येस्पर्स आदि का आज का अतिक्रान्तिवाद (ट्रान्सेडेटल एग्जिस्टेंशियालिज्म) जैन-दर्शन के बहुत निकट आ जाता है।

इस तरह आप देखेंगे कि आज के युग मे अस्तित्ववाद, आत्म-स्वतन्त्रवाद, सर्व-स्वतन्त्रवाद, स्वच्छन्दवाद, पूर्ण-भोगवाद, समाजवाद, गणतन्त्रवाद, परोक्ष-वादी कलावाद आदि की जो प्रमुख पुकारे मानव आत्मा मे ज्वलन्त हैं, उन सबका मौलिक समाधान जिनेश्वरो के धर्म-दर्शन मे समीचीन रूप से उपलब्ध है। एकतन्त्रीय पूजीवाद और अधिनायकवाद से दुनिया को उबारकर, एक सच्चे सर्वोदयी साम्यवाद और समाजवाद मे प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के धर्मदर्शन को नये सिरे से समझना जरूरी है।

जैनो के अनुसार तो महावीर ही हमारे युग के तीर्थंकर हैं। यानी हमारे वर्तमान युग-तीर्थ की मागलिक परिचालना का धर्म-चक्र उन्ही भगवान की उँगली पर घूम रहा है। एक बा" एकाग्र होकर हम उस धर्म-चक्र का दर्शन करे, तो शायद है कि हमारे युग की चाल ही बदल जाए। समग्र क्रान्ति और किसे कहते हैं? □

(पृष्ठ 26 का शेष)

इसमे ज्योतिष, हठयोग तथा गणित को भी यथा स्थान इस प्रकार समाविष्ट किया है कि वे भी इसके अग/अवयव मे ही प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार यह काव्य श्रेष्ठ काव्यो की श्रेणी में परिगणना के योग्य है। सैकड़ो वर्षो तक जो भी इसका अध्ययन करेंगे, वे उपन्यास या नाटक का सा आनन्द लेते हुए अध्यात्म से तो पूत होंगे ही, उनमे साहित्य रुचि भी उत्पन्न होगी, कला का निखार होगा, समाज तथा राष्ट्र के प्रति हितकर भावना पनपेगी और अन्त मे उद्गत होगी —मुक्ति की मगल कामना। □

जो तुम मोख देत नहिं हमकों, कहो जाये किहि डेरा ?

—डॉ० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

जैन ग्रन्थो मे भक्ति से मुक्ति वाली बात एकाधिक स्थलो पर मिलती है। जैन आचार्यों ने इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया तो जैन कवियो ने स्थान-स्थान पर भगवान से मुक्ति की याचना की। उनकी याचना विफल हुई हो, ऐसा नही है। उन्हे मुक्ति मिलने का पूर्ण विश्वास था और वह पूरा हुआ। मुक्ति तो वैष्णव शैव, ईसाई, पारसी सभी भक्तो को उनके आराध्य देवो ने दी, किंतु यहा थोडा-सा अन्तर है। गज को ग्राह से बचाने के लिए जैसे विष्णु विष्णु-लोक से दौड आए, वैसे जैन भगवान नही दौडता। वह अपनी जगह से हिलता भी नही। इस पर एक भक्त तो विलाप करते हुए कह उठा—"जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहो जाये किहि डेरा।" किन्तु जिनदेव पसीजे नही। एक दूसरे स्थान पर, एक दूसरे कवि ने कहा—"जगत मे सौ देवन को देव। जासु चरन परसे इन्द्रादिक, होय मुकति स्वयमेव।।" यहा भी भगवान दौड कर नही आया। भक्त स्वयं गया, चरणो का स्पर्श किया और उसे मुक्ति मिल गई। वास्तविकता यह है कि जिनेन्द्र कर्त्ता नही हे, फिर वह मुक्ति देने का काम भी नही कर सकता, फिर भी जैन भक्त कवि उनसे मुक्ति मागते रहे और वह उन्हे मिलती रही। कैसे ?

एक प्रश्न है, जिसका उत्तर, जैन भक्ति को जैनेत्तर भक्ति से पृथक कर देता है। इस प्रश्न पर आचार्य समन्तभद्र ने गहराई से सोचा था। उनका कथन है कि कि जैन प्रभु कुछ नही देता, दे नही सकता, क्योकि उसमे कर्तृत्व नही है। फिर भी उसके पुण्य गुणो के स्मरण से मन पवित्र हो जाता है। मन के पवित्र होने का अर्थ है कि वह ससार से पराड्मुख होकर जिनेन्द्र की ओर उन्मुख हो जाता है। दूसरी बात, मन के मुडते ही दुरिताजन स्वतः दूर हो जाता है। दुरिताजन ही कर्म है। उनके दूर होने का अर्थ हे, कर्मों से छुटकारा। इसी को मुक्ति कहते हैं। यह सब होता है मन के पावन होने से और यह पावनता आती है जिनेन्द्र स्मरण से। भगवान कुछ नही देता, किन्तु उसके स्मरण-मात्र से मन

पवित्र तो होता ही है । यही है वह बात, जिससे जीव सब कुछ पा जाता है ।

दूसरा प्रश्न है—जिनेन्द्र के स्मरण से मन पावन क्यो होता है ? जिनेन्द्र के स्मरण का सीधा-साधा अर्थ है कि मन का जिनेन्द्र की ओर मुडना । मुडना ही मुख्य है । इसी को हठवादी तान्त्रिक परम्परा मे मूलाधार कुण्डलिनी का जगना कहते है । जब मन एक बार मुड गया है, जिनेन्द्र के स्मरण का आनन्द पा लिया है, तो वह बार-बार लौट कर भी पुन पुन. मुडने को ललकता है । यह ललक बडी बात है । यही आगे चल कर मन को स्थायी रूप से मोड देती है । स्थायी रूप से मुडने का अर्थ है, जिनेन्द्र का दर्शन और तादात्म्य । इसे रहस्यवादी परम्परा मे तीसरी और चौथी अवस्था कहते हैं । पहली अवस्था है मुडना और दूसरी दशा है बार-बार मुडने की ललक । एक बार जब आराध्य का दर्शन हो जाता है, तो तादात्म्य हुए बिना रहता नही । कबीर की बहुरिया यह कहती रही—"घनि मैली पिउ ऊजरा, किहि विधि लागूँ पाय ।" किन्तु उसका ऐसा सोचना चल ही रहा था कि वह पिउ से तद्रूप हो गई । जैन कवि बनारसीदास के "बालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि, अचरा गो फहराय सरम गै छूटि ।" मे भी यही भाव है । मन के आराध्य पर स्थायी रूप से टिकने के बाद वह तन्मय हुए बिना नही रहती । फिर, "पिय मोरे घट मे पिय माहि । जल तरग ज्यो दुविधा नाहि ।।" से दोनो एक हो जाते है ।

यहा, रहस्यवादी परम्परा से स्पष्ट अन्तर है । जैनाराध्य पर नही हैं, वह स्व ही है । जो जैनेन्द्र है वही स्वात्मा का स्वरूप है । दोनो मे कोई अन्तर नही है । आचार्य योगीन्द्र ने परमात्मा प्रकाश मे, "जेहउ गिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ । तेहउ णिवसइ बसु परु देहह मं करि भेउ ।।" कह कर आत्मा और सिद्ध का स्वरूप एक माना है । उनकी दृष्टि मे सिद्ध और ब्रह्म मे कोई अन्तर नही है । दोनो एक हैं । अर्थात् आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप समान है । इसी को जैन हिन्दी कवि भट्टारक शुभचन्द्र ने तत्त्वसार दूहा मे, "चिद्रूपचिता चेतन रे साक्षी परम ब्रह्म ।' कवि बनारसीदास ने नाटक समय-सार मे, "सोहे घट-मन्दिर मे चेतन प्रकट रूप, ऐसो जिनराज ताहिवदत बनारसी ।" और भैय्या भगवती दास ने—ब्रह्मविलास मे, "सिद्ध के समान है विराजमान चिदानन्द, ताही को निहार निज रूप मान लीजिए ।" कह कर सिद्ध किया है ।

तीसरा प्रश्न है कि जब तत्त्व दृष्टि से आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है, दोनो एक समान है, तो कौन किसकी ओर मुडता है और क्यो मुडता है ? आचार्य पूज्यपाद ने समाधितत्र मे आत्मा के तीन भेद बताये है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । बहिरात्मा वह है जो आत्मा के स्वरूप को नही देख सकता, 'पर'

द्रव्य मे लीन रहता है और मिथ्यावन्त है। अन्तरात्मा मे आत्मा को देखने की शक्ति तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वह महाव्रती नही होती। परमात्मा आत्मा का वह रूप है, जिसमे शुद्ध स्वभाव उत्पन्न हो गया है और जिसमे सब लोकालोक झलक उठे हैं। अनुभूति क्रिया मे आत्मा के दो ही रूप काम करते है, एक तो वह जो अभी परमात्मपद को प्राप्त नही कर सका है और दूसरा वह जो परमात्मा कहलाता है। पहला अनुभूतिकर्त्ता हे और दूसरा अनुभूति तत्त्व। पहला मुडता है और वह लक्ष्य है, जहा उसे पहुचना है। एक ही आत्मा के दो रूप—एक मिथ्यात्व मे डूबा है, किन्तु जगकर (अन्तरात्मा होकर), दूसरे रूप—शुद्ध-विशुद्ध निरन्जन परमात्मा की ओर मुडता है। जीवन मे बहुत मोड आते है, किन्तु आत्मा का यह मोड अनोखा होता है—सुहाग और ललक-भरा। प्रिय-मिलन की ललक, कौन तुलना कर सका हे, उसकी। अनिवर्चनोय की पियास, जिसमे जग गई वह स्वय अवक्तव्य हो जाता है। कौन कह सका है उसे।

कबीर की आत्मा भी ब्रह्म की ओर मुडी है, किन्तु थोडा-सा अन्तर है। कबीर ने जिस आत्मा का निरूपण किया है, वह विश्व-व्यापी ब्रह्म का खड अश है, जबकि जैन कवियो की आत्मा कर्ममल को धोकर स्वय ब्रह्म बन जाती है। वह किसी अन्य का अश नही है। उसे अपने से भिन्न किसी 'पर' के पास नही जाना होता। वह स्वय आत्मा है और स्वय परमात्मा। मन जब ससार की ओर मुडा रहता है, तब आत्मा मिथ्यावत है, साधारण ससारी जीव है और मन जब अपने ही शुद्ध-विशुद्ध परमानन्द रूप की ओर मुड उठता है, तो वह पहले अन्त-रात्मा और फिर परमात्मा बन जाता है।

चौथा प्रश्न है कि जैन भक्त ऐसे भगवान के चरणो मे अपने श्रद्धा-पुष्प चढाता है, जो स्वय वीतरागी है, अर्थात् राग-द्वेषो से रहित है। वीतराग होने से पूजा का उस पर प्रभाव नही पडता और बैर रहित होने से, निन्दा से भी वह विचलित नही होता। ऐसे भगवान की पूजा, भक्ति, उपासना, अर्चना आदि करने से लाभ क्या है? वह मोक्ष मे बैठा है। यहा आ नही सकता। भक्त के दुख दूर नही कर सकता। फिर ऐसे वीतरागी से राग का अर्थ क्या है? फिर राग कैसा ही हो, भले ही वीतरागी मे किया गया हो, कर्मो के आस्रव (आगमन) का कारण है।

इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है, "पूज्य भगवान जिनेन्द्र की पूजा करते हुए, अनुराग के कारण जो लेश-मात्र पाप का उपार्जन होता है, वह बहु पुण्य राशि मे उसी प्रकार दोष का कारण नही बनता, जिस प्रकार कि विष की एक कणिका, ठण्डे कल्याणकारी जल से भरे

हुए समुद्र को दूपित करने मे समर्थ नही होती ।" अर्थात् जिनेन्द्र मे अनुराग करने से लेश-मात्र ही सही, पाप तो होता ही है, किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह रच-मात्र पाप उसे दूपित करने की सामर्थ्य नही रखता। आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियो मे अनुराग करने वालो को सच्चा योगी कहा है। उनका ये भी कथन है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु मे प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अर्थात् उनकी दृष्टि मे वीतरागी मे किया गया अनुराग, यत्किचित भी पाप का कारण नही है।

वीतरागी परमात्मा 'पर' नही है, वह स्व' आत्मा ही है। योगीन्द्र का कथन है, "एहु जु अप्पा परम अप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा।" परमानन्द स्वभाव वाले भगवान् जिनेन्द्र को योगीन्द्र ने परमात्मा कहा और वह ही स्व आत्मा है, ऐसा भी कहा। उन्होने लिखा है, "जो जिणु केवलणाणमउ परमाणद सद्धाउ। सो परमप्पमउ परम-परु सो जिय अप्पम्हाय ॥" अत जिनेन्द्र मे अनुराग करना अपनी आत्मा मे ही प्रेम करना है। आत्म-प्रेम का अर्थ है—आत्म-सिद्धि, जिसे योग कहते है। जिनेन्द्र का अनुराग भी मोक्ष देता है। आचार्य पूज्यपाद ने आठ कर्मो का नाश कर आत्म-स्वभाव को साधने वाले भगवान् सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है। उन्होने यह भी लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र का मुख देखने से ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई पडता है, अन्यथा नही।

पाचवा प्रश्न भक्ति के क्षेत्र मे सौदेबाजी से सम्बन्धित है। जो जीव भक्ति करेगा, भगवान उसे सब-कुछ देगा—इहलौकिक और पारलौकिक सभी कुछ। कबीर ने इसे कभी स्वीकार नही किया। वे एक मस्त जीव थे। लेन-देन से उनका कोई सम्बन्ध नही था। इस प्रवृत्ति को पनपाने के लिए जिस बीज की आवश्यकता होती है, वह कबीर मे थी ही नही। वे तो बिना कुछ मागे पूर्ण आत्म-समर्पण के पक्ष मे थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि मन को 'बिसमल' किए बिना ब्रह्म के दर्शन नही हो सकते। जब तक सर नहीं दोगे ब्रह्म नही मिलेगा। कबीर का कहना था कि ब्रह्म मे मन लगा देने से, मन का मलीमस स्वत दूर हो जाता है। ऐसा नही है कि पहले मल दूर करो तब ब्रह्म आयेगा।। सर काट कर हाथ पर रख लो, यही मुख्य है। सर मैला है कि साफ, यह देखने की आवश्यकता नही है। सर कटते ही समर्पण पूरा हो जायेगा, और तभी ब्रह्म भी प्राप्त हो सकेगा। इसे कहते हैं—बिला शर्त समर्पण। इसे ही अहैतुक प्रेम अथवा अहैतुकी भक्ति भी कहते हैं।

अहैतुकता जैसी जैन भक्ति मार्ग मे बन पाती है, अन्यत्र नही। जैन भगवान विश्व का नियन्ता नही है, वह मुक्त है, अकर्त्ता है। वह पूर्ण रूप मे वीत-

रागी है। वह द्रष्टा-भर है । ऐसे भगवान की भक्ति कोई भी भक्त निष्काम होकर ही कर सकता है । कुछ न देने वाले का दर्शनकाक्षी निष्काम होगा ही, यह सत्य है । ऐसे प्रभु की दर्शनाकाक्षा भी होती है, तो वह कहा टिके ? प्रश्न यह है । एक सहारा है—वीतरागी के गुण, अर्थात् उसकी वीतरागिता । निष्काम भक्त को वही भाती है । और वह वीतरागता स्वय भक्त मे मौजूद है, छिपी पडी है । वीतरागी के दर्शन से उसे ढूढने की प्रेरणा मिलती है—स्वत । इतना ही है । शर्त को कोई स्थान नही । लेन-देन से कोई मतलब नही ।

दूसरी बात यह है कि जैन भक्त को समर्पण करने अन्यत्र नही जाना पडता । वहा तो 'स्व' के प्रति 'स्व' को समर्पित करना होता है । जीवात्मा मे परमात्म रूप होने की भावना ज्यो ही जगती है, वह परमात्मा बन जाती है । जैसे सूर्य के प्रतापवान होने पर घन-समूह को विदीर्ण होना ही पडता है और सूर्य निराबाध ज्योतिर्मय हो उठता है, जैसे द्वितीया के चन्द्र के आगमन को इच्छा होते ही अमा की निशा को मार्ग देना ही पडता है और उसकी शीतल किरणे चतुर्दिक मे विकीर्ण हो जाती है, जैसे नदी की धार मे मरोड आते ही पत्थरो को चूर्ण-चूर्ण होना ही पडता है और वह एक स्वस्थ प्रवाह लिए बह उठती है, वैसे ही आत्मा मे समर्पण भाव के उगते ही परमात्म-प्रकाश उदित हो उठता है । जब समर्पण के सहारे आत्मा स्वय ब्रह्म बन सकती है, तो उसे अपना समर्पण सहैतुक बनाने की क्या आवश्यकता है । सहैतुक तो वही हैं, जहा द्वित्व हो, जहा भेद हो, पृथक्करण हो । यहा तो एक ही चीज है । 'स्व' के प्रति 'स्व' का समर्पण जितना अहैतुक हो सकता है, अन्य नही ।

निष्काम भक्ति ही काम्य है । श्रीमद्भगवद्गीता मे भक्ति की निष्कामता पर सर्वाधिक बल दिया गया हे । "कर्मण्यमेवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इसी की एक कडी है । गीता ने सन्यास इसी को कहा, जिसमे काम्य कर्मो का न्यास हो । सच्चा त्याग वही है, जिसमे सर्वकर्म फलत्याग हो । जैसे—"काम्याना कर्मणा न्यास सन्यासे कवयो विदु । सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्या गो विचक्षणा ।" इसी निष्कामता को लेकर गाधी जी ने 'अनासक्तियोग' जैसे महान ग्रथ की रचना की थी । जब तक निष्कामता न होगी, अनासक्ति हो ही नही सकती । अनासक्त हुए बिना फल-त्याग असम्भव है । चिपकन तभी तक हे, जब तक फल प्राप्त करने की लालसा है । यदि कर्म मुख्य और फल गौण हो जाये तो व्यक्ति और समाज ही नही, राष्ट्र भी समुन्नति के शिखर पर पहुच सकता है। फल गौण होता है, अनासक्ति से और अनासक्ति आती है निष्कामता से । जैन ग्रन्थो मे उसके सूत्र बहुत है, स्थान-स्थान पर प्राप्त होते है ।

जैन भक्ति मार्ग की विशेषता है ज्ञानमूलकता। ज्ञान-विना भक्ति अन्ध है और भक्ति के विना ज्ञान शुष्क है, असाध्य और असम्भव। जिस मानव जीवन को हम ज्ञान के सूक्ष्म निराकार तन्तु से जोडना चाहते है, वह सरस पथ का अनुयायी है। वह अनुभूतिमय है, भाव और भावना युक्त। इनको सहज रूप से सहेज कर ही भक्ति ज्ञान से मिलती है। शायद जैनाचार्यो ने इसी कारण अपने प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग' मे सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया है। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। कोरी श्रद्धा नही, उसे 'सम्यक्' पद से युक्त होना ही चाहिए। आचार्य समन्तभद्र सुश्रद्धा के पक्षपाती थे। यहा पर 'सु' सम्यक्य का द्योतक है।

दोनो मे जैसा समन्वय जैन काव्यो मे मिल सका, अन्यत्र नही। इसका कारण है—स्वात्मोपलब्धि। स्वात्मा का अर्थ हे वह आत्मा जो अष्टकर्मो के मलीमस् से छूट कर विशुद्ध हो चुकी है। वही सिद्ध कहलाती है। उसे निष्फल भी कहते है। वह निराकार, अदृष्ट और अमूर्तिक होती है। सिद्ध के रूप मे और इस देह मे विराजमान शुद्ध आत्मा या चैतन्य मे कोई अन्तर नही हे। औरयही स्वात्मा पचपरमेष्ठी मे होती है। पचपरमेष्ठी मे सिद्ध की बात की जा चुकी है, वह निराकार और अदृष्ट है, किन्तु अवशिष्ट चार परमेष्ठी अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु साकार, दृष्ट और मूर्त्तिक होते हैं। किन्तु स्वात्मा की दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर नही है। अत चाहे ज्ञानी अपने आत्मशुद्धि से उस आत्मा मे अभेद की स्थापना करे अथवा भक्त भगवन्निष्ठा से वहा तक पहुचे, एक ही बात है। दोनो को अनिर्वचनीय आनन्द का स्वाद समान रूप से मिलता है। साकार और निराकार के मूलरूप मे कोई अन्तर नही है, ऐसा जैनाचार्यो ने एकाधिक स्थलो पर लिखा। इसी कारण उनकी दृष्टि मे आत्मनिष्ठा और भगवन्निष्ठा मे कोई अन्तर नही है।

ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भ मे ध्यान की बात भी अप्रासगिक नही होगी। श्रमण धारा आज से नही, युग-युग से ध्यान और भक्ति मे एकरूपता मानती रही है। आचार्य उमास्वाति ने 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' कहा, तो आचार्य पूज्यपाद ने 'नानार्थावलम्बनेन चिन्तापरिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेपमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिनग्रे नियम एकाग्रचिन्ता निरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यान स्वरूपमुक्तं भवति।" लिखा। सार है कि मन को सब चिन्ताओ से मुक्त करके एक मे केन्द्रित करना ध्यान है। अर्थात् मन को आत्मा मे केन्द्रित करने को ध्यान कहते हैं। भक्त भक्ति के द्वारा अपने इष्टदेव मे मन को टिकाता है। नानार्थाव-

लम्बनेन परिस्पन्दवती चिन्ता से मन को व्यावर्त्य करना दोनो को अभीष्ट है। उसके बिना मन न तो इष्टदेव पर टिकता है और न आत्मा पर केन्द्रित होता है। इस प्रकार भक्ति और ध्यान मे कोई अन्तर नही है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे "पचपरमेष्ठी का चिन्तवन, आत्मा का ही चिन्तवन है।" आचार्य योगीन्द्र ने भी लिखा है, "जो जिन भगवान है, वह ही आत्मा है, यही सिद्धान्त का सार समझो।' श्री देवसेन ने 'भावसग्रह' मे आधार की दृष्टि से ध्यान के दो भेद किए हैं—सालम्ब ध्यान और निरालम्ब ध्यान। सालम्ब ध्यान वह है, जिसमे मन को पच परमेष्ठी पर टिकाना होता है। इसी भाति आचार्य वसुनन्दि ने ध्यान और भावपूजा को एक मानकर, ध्यान और भक्ति की एकता सिद्ध की है। पूजा भक्ति का मुख्य अग है। उसके दो भेद हैं—भावपूजा और द्रव्यपूजा। भावपूजा परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र के अनन्त चतुष्टय आदि गुणो पर मन को केन्द्रित करना है।

सामायिक एक ध्यान ही है। आचार्य समन्तभद्र ने मन को ससार से हटाकर आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करने को सामायिक कहा है। ध्यान होने से सामायिक भी भक्ति ही है। प० जयचन्द छाबडा ने 'चरित्र पाहुड' का अनुवाद करते हुए एक स्थान पर लिखा है, "एकान्त स्थान मे बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना, या पचपरमेष्ठी का भक्तिपाठ पढना सामायिक है। आचार्य सोमदेव ने भी यशस्तिलक मे स्नान, पूजन, स्त्रोत्र, जप श्रुतस्तवन और ध्यान की एकता सिद्ध करते हुए सभी को सामयिक कहा है। आचार्य श्रुतसागर सूरि ने एकाग्रमन से देववन्दना को सामयिक मानकर भक्ति की प्रतिष्ठा की है। आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ भी भक्ति पाठ ही है।

जैनाचार्यो ने समाधि को उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ मे लिया है। उनके अनुसार चित्त का सम्यक् प्रकार से ध्येय मे स्थित हो जाना ही समाधि है। समाधि मे निर्विकल्प अवस्था तक पहुचने के पूर्व मन को पचपरमेष्ठी पर टिकाना अनिवार्य है। भक्त भी अपना मन पचपरमेष्ठी मे तल्लीन करता है, अत दोनो अवस्थाओ मे कोई अन्तर नही है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने प्राकृत मे और आचार्य पूज्यपाद ने सस्कृत मे "समाधि भक्ति" की रचना की है। इस भक्ति मे समाधि, समाधिस्थो और समाधिस्थलो के प्रति सेवा, श्रद्धा और आदर-सत्कार का भाव प्रकट किया गया है।

तो, ज्ञान और भक्ति का जैसा समन्वित रूप जैन ग्रन्थो मे देखने को मिलता है, अन्यत्र नही। बनारसीदास की सुमति ने भक्ति बनकर जिस आराध्य को साधा वह निराकार था और साकार भी, एक था और अनेक भी, निर्गुण था और सगुण

भी। इसी कारण जैन कवियो ने सगुण का समर्थन करने के लिए निर्गुण का खण्डन नही किया और निर्गुण की आराधना के लिए सगुण राम पर रावण की हत्या का आरोप नही लगाया। वे निर्द्वन्द्व ही दोनो के गीत गा सके। कवि बनारसीदास ने "नाना रूप भेष धरे भेष न लेस धरे, चेतन प्रदेस धरे चेतना को खध है।" कहकर उन्होने साकार कहा और निराकार भी। इसी भाति उन्होने एक ही ब्रह्म को "निर्गुण रूप निरन्जन देवा सगुण स्वरूप करें विधि सेवा।" लिखकर निर्गुण कहा और सगुण भी। यह एक अनेकान्तात्मक परम्परा थी, जो बनारसी को जन्म से मिली थी।

इस परम्परा का जाने और अनजाने कबीर पर भी प्रभाव पडा—, ऐसा उनके काव्य से सिद्ध है। कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है। निर्गुण का अर्थ है—गुणातीत। गुण का अर्थ है—प्रकृति का विकार—सत्व, रज और तम। ससार इस विकार से सयुक्त है और आत्मा इससे रहित। किन्तु कबीर दास ने विकार-सयुक्त ससार के घट-घट मे निर्गुण ब्रह्म का वास दिखाकर सिद्ध किया है कि 'गुण', निर्गुण' का और 'निर्गुण', 'गुण' का विरोधी नही है। उन्होने 'निरगुन मे गुन और गुन मे निरगुन' को ही सत्य माना है, अवशिष्ट सब को धोखा कहा। अर्थात् कबीरदास ने सत्व, तम से रहित होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण और सत्व, रज, तम रूप विश्व के कण-कण मे व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा। उनका ब्रह्म भीतर से बाहर और बाहर से भीतर तक व्याप्त था। वह अभाव रूप भी था और भाव रूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी। जैसे अनेकान्त मे दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ जाते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म मे भी ये। वास्तविकता यह है कि कबीरदास को अनेकान्त और उसके पीछे दिया सिद्धान्त न तो किसी ने समझाया और न उसके समझने से उनका कोई मतलब ही था। कबीर सिद्धान्तो के घेरे मे बधने वाले जीव नही थे। उन्होने सदैव सुगन्धि को पसन्द किया—ऐसी सुगन्धि, जो सर्वोत्तम थी। वह कहा से आ रही थी, इसकी उन्होने कभी चिन्ता नही की।

यही अनेकान्त का स्वर अपभ्रंश के जैन दूहा काव्य मे पूर्ण रूप से वर्तमान है। कबीर ने जिस ब्रह्म को निर्गुण कहा, योगीन्द्र के परमात्मप्रकाश मे उसे ही 'निष्कल' सज्ञा से अभिहित किया गया था। निष्कल की परिभाषा बताते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'पन्चविधशरीररहित' लिखा। रामसिंह मुनि ने भी अपनी पाहुण दोहा मे निष्कल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। शरीर-रहित का अर्थ है—नि शरीर, देह-रहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्तिक, अलक्ष्य। प्रारम्भ मे योगीन्द्र ने इसी निष्कल को 'निरन्जन' कहकर सम्बोधित किया है। उन्होने लिखा है—"जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म

और न मरण, वह निरन्जन कहलाता है। निरन्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। वैसे निष्कल के अनेक पर्यायवाची है। उनमे आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है। मुनि रामसिह ने समूचे 'पाहुड दोहा' मे केवल एक स्थान पर ही 'निर्गुण' शब्द लिखा है। उन्होने उसका अर्थ किया है—निर्लक्षण और नि सग। वह निष्कल से मिलता-जुलता है।

कबीर की 'निर्गुण मे गुण और गुण मे निर्गुण' वाली वात अपभ्र श के काव्यो मे उपलब्ध होती है। योगीन्द्र ने लिखा—"जसु अब्भतरि जगु वसई, जग-अव्यभतरि जो जि।" ऐसा ही मुनि रामसिह का कथन है—"तिहुयणि दीसइ देउ, जिण बिणवर तिहुवणु एउ।" अर्थात्, त्रिभुवन मे जिनदेव दिखता है और जिनवर मे यह त्रिभुवन। जिनवर मे त्रिभुवन ठीक वैसे ही दिखता है, जैसे निर्मल जल मे ताराओ का समूह प्रतिबिम्बित होता है।

त्रिभुवन मे जिनदेव की व्याप्ति विचार का विषय है। त्रिभुवन का अर्थ है—त्रिभुवन मे रहने वालो का घट-घट। उसमे निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है। निष्कल है पवित्र और घट-घट हैं अपवित्र, कलुष और मेल से भरा। कुछ लोगो का कथन है कि ब्रह्म गन्दी जगह पर नही रह सकता, अत पहले उसको तप, सयम या साधना किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो, तव वह रहेगा, अन्यथा नही। कबीर का कथन था कि राम के वसते ही घट स्वतः पवित्र हो जायेगा। मेल अपने आप छूट जायेगा और कलुप स्वय चुककर रह जायेगा। उन्हो ने लिखा—"ते सव तिरे राम रसवादी, कहे कबीर बूडे वकवादी।" उनकी दृष्टि मे विकार की लहरो से तरगायित इस ससार-सागर से पार होने के लिए राम रूपी नैय्या का ही सहारा है। कबीर से वहुत पहले मुनि रामसिह ने भीतरी चित्त के मेल को दूर करने के लिए "अब्भतरि चित्ति वि मइलियइ वाहरि काइ तवैण। चित्ति णिरजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण।।" के द्वारा निरन्जन को धारण करने की वात कही थी। उन्होने यह भी लिखा कि जिसके मन मे परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति पा लेता है। एक स्थान पर तो उन्होने कहा कि जिसके हृदय मे जिनेन्द्र मौजूद है वहा मानो समस्त जगत ही सचार करता है। उसके परे कोई नही जा सकता। इसी प्रकार आचार्य योगीन्द्र का कथन है—"जिसके मन मे निर्मल आत्मा नही बसती, उसका शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा ?" अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन शुद्ध हो जायेगा और गन्दगी स्वत. विलीन हो जायेगी। मन निरन्जन को पाते ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। इसके सिवा, तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नही दिला सकते। महचन्द ने अपने पाहुड दोहा मे लिखा है—"निष्कल परम जिन को पा लेने मे जीव सब

कर्मों से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है, औ' अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है।" अर्थात् कलुष स्वतः छूट जाता है—रहता ही नहीं।

जैन भक्ति का एक विशेष पहलू है—दिव्य अनुराग। इसे यदि भगवत्प्रेम कहें तो अनुचित न होगा। यहा राग और प्रेम पर्यायवाची है। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्ति' कहा है। परानुरक्ति गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढे हो जाने को 'प्रेम' कहा है। "भक्ति रसामृतसिन्धु" मे भी लिखा है, "सम्यङ मसृणित स्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित। भाव स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते॥" इन सब से पूर्व, छठी शताब्दी मे आचार्य पूज्यपाद ने 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो विशुद्धियुक्तो नुरागो भक्ति," अर्थात् अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन मे भावविशुद्धि-युक्त अनुराग ही भक्ति हैं—लिखा था। विक्रम की ११ वी शताब्दी के जैन आचार्य सोमदेव का कथन है," जिन जिनागम और तप तथा श्रुत के पारगामी आचार्य मे सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।

जैन आचार्यों ने राग को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु वही, जहा वह 'पर' मे किया गया हो। वीतरागी परमात्मा 'पर' नही, 'स्व' आत्मा ही है और आत्म-प्रेम का अर्थ है—आत्मसिद्धि, जिसे मोक्ष कहते है। शायद इसी कारण आचार्य पूज्यपाद ने राग को भक्ति कहा। वीतरागी के प्रति राग का यह भाव जैन भक्ति के रूप मे निरन्तर प्रतिष्ठित बना रहा। भक्त कवियो ने उसी को अपना आधार माना।

हिन्दी के 'जैन भक्ति काव्य' मे यह रागात्मक भाव जिन अनेक मार्गों से प्रस्फुटित हुआ, उनमे दाम्पत्य रति प्रमुख है। दाम्पत्यरति का अर्थ है—पति-पत्नी का प्रेमभाव। पति-पत्नी मे जैसा गहरा प्रेम सम्भव है, अन्यत्र नही। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' मे लिखा, 'कामिहि नारि पिआरि जिमि, प्रिय लागहु मोहि राम।' शायद इसी कारण दाम्पत्यरति को रागात्मक भक्ति मे शीर्ष स्थान दिया गया है।

हिन्दी के जैन कवियो ने चेतन को पति और सुमति को पत्नी बनाया। पति के विरह मे पत्नी बेचैन रहती है, वह सदैव पति-मिलन की आकाक्षा करती है। पति-पत्नी के प्रेम मे जो मर्यादा और शालीनता होती है, जैन कवियो ने उसका पूर्ण निर्वाह दाम्पत्य रति वाले रूपको मे किया है। कवि बनारसीदास की 'अध्यात्मपदपक्ति', 'भैया' भगवतीदास की 'शत अष्टोत्तरी,' मुनि विनयचन्द की 'चूनडी', द्यानतराय, भूधरदास, जगजीवन के पदो मे दाम्पत्यरति के

अनेक दृष्टान्त है और उनमे मर्दादा का पूर्ण पालन किया गया है। हिन्दी के कतिपय भक्ति काव्यो मे दाम्पत्य रति छिछले प्रेम की द्योतक भर बन कर रह गयी है। उनमे भक्ति कम और स्थूल सम्भोग का भाव अधिक है। भक्ति की ओट मे वासना को उद्दीप्त करना किसी भी दशा मे ठीक नही कहा जा सकता। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे।

आध्यात्मिक विवाह भी रूपक काव्य है। इनमे मेरुनन्दन उपाध्याय का 'जिनोदयसूरि विवाहलउ', उपाध्याय जय सागर का 'नेमिनाथ विवाहलो', कुमुदचन्द्र का 'ऋषभ विवाहलो' और अजयराज पाटणी का 'शिवरमणी का विवाह' इस दिशा की महत्वपूर्ण कडिया है। आध्यात्मिक विवाह जैनो की मौलिक कृतिया हैं। निर्गुनिए सतो ने ऐसी रचनाए नही की। जैन कवियो ने 'आध्यात्मिक फागु' भी अधिकाधिक रचे। चेतन अपनी सुमति आदि अनेक पत्नियो के साथ होली खेलता रहा है। कभी-कभी पुरुष और नारी के जत्थो के मध्य भी होलिया खेली गई है। वैसे तो होलिया सहस्रो जैन पदो मे बिखरी है, किन्तु जैसी सरसता द्यानतराय, जगजीवन, और रूपचन्द के काव्य मे है, दूसरी जगह नही। चेतन की पत्नियो को 'चूनडी' पहनने का चाव था। कबीर की वहुरिया ने भी 'चूनडी' पहनी है, किन्तु साधुकीर्ति की चूनडी मे सगीतात्मक लालित्य अधिक है।

नेमिनाथ और राजीमती से सम्बन्धित मुक्तक और खण्ड काव्यो मे जिस प्रेम की अनुभूति सन्निहित है, वह भी स्थूल नही, दिव्य है। वैरागी पति के प्रति यदि पत्नी का सच्चा प्रेम है, तो वह भी वैराग्य से युक्त ही होगा। राजीमती का नेमीश्वर के साथ विवाह नही हो पाया था कि वे भोज्यपदार्थ बनने के लिए बधे पशुओ की करुण पुकार से प्रभावित होकर तप करने चले गये, फिर भी राजीमती ने जीवन-पर्यन्त उन्ही को अपना पति माना। ऐसी पत्नी का प्रेम झूठा अथवा वासना-मिश्रित होगा, कोई नही कह सकता।

हिन्दी की अनेक मुक्तक रचनाओ मे राजीमती के सौन्दर्य और विरह की भावपरक अनुभूतिया है, किन्तु वे अपभ्रश की प्रेषितपतिकाओ से थोडा भी प्रभावित नही हैं। राजीमती विरह-प्रपीड़ित है, किन्तु उसे पति के सुख का ही अधिक ध्यान है। विरह मे न तो उसकी शैय्या नागिन बन सकी हैं और न उसने अपनी राते ही पाटिया पकडकर बितायी है। राजशेखर के नेमीश्वरफागु, हर्ष-कीर्ति, हेमविजय और विनोदीलाल के 'नेमीश्वरगीतो' मे राजीमती का सौन्दर्य तथा जिनहर्ष, लक्ष्मीवल्लभ, विनोदीलाल और धर्मचद्र के 'नेमि-राजीमती बारह मासो' मे राजीमती का विरह उत्तम काव्य का निदर्शन है। कहीं

नही। सौन्दर्य और विरह की कही नाप-जोख नही। सब कुछ स्वाभाविक है। भावो के सांचे मे ढला।

हिन्दी के जैन कवि भगवान के अनन्य प्रेम को जिस भांति आध्यात्मिक पक्ष में घटा सके, हिन्दी का कोई अन्य कवि कदाचित ही कर सका। कबीर मे दाम्पत्यभाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नही, जैसाकि आनन्दघन मे है। जायसी के प्रबन्ध काव्य मे अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमे वह एकान्तता नही आ पाई है, जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदो मे पाई जाती है। सुजान वाली आनन्दघन के बहुत से पद 'भगवद्-भक्ति' मे वैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष मे घटे है। महात्मा आनन्द-घन जैनो के एक पहुचे हुए साधु थे। उनके पदो मे हृदय की तल्लीनता है, एक निष्ठता है, एकाग्रता है, समाधि-जैसी स्थिरता है, कही द्वंघ नही अटकाव नहीं। एक स्थान पर उन्होने लिखा है—'सुहागिन के हृदय मे निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादि काल से चली आने वाली अज्ञान की नीद समाप्त हो गई। भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे अहकार स्वय पलायन कर गया और अनुपम तत्त्व सहज ही मिल गया।' एक दूसरे स्थान पर उन्होने लिखा है, 'प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसके लगता है, वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसी वीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मा रूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नही जा सकती।'

अनन्य प्रेम मे वह शक्ति होती है कि स्वय भगवान भक्त के पास आते हैं भक्त नही जाता, जब भगवान आते हैं, तो भक्त के आनन्द का पारावार नही रहता। आनन्दघन की सुहागिन नारी के नाथ भी स्वय आए है, और अपनी प्रिया को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतिक्षा के बाद आए नाथ की प्रसन्नता मे, पत्नी ने भी विविध भान्ति के शृगार किये है। उसने प्रेम, प्रतीति, आग और रुचि के रग मे साडी पहनी है, भक्ति की मेहदी राची है और भाव का सुखकारी अजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूडिया पहनी हैं और स्थिरता का भारी कगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरबसी गहना वक्षस्थल पर शोभित है, और प्रिय के गुण की माला उसने गले मे पहनी है। सुख के सिन्दूर से माग को सजाया है और विरति की वेणी को आकर्षक ढग मे गूथा है। उसके घट मे त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहा से अनहद नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एक तान से पियरस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।"

(शेष पृष्ठ 70 पर)

जैन प्रतिमा-विधान के आधार-ग्रन्थ

बालचन्द्र जैन —एम० ए०, साहित्य शास्त्री— जबलपुर

जैन परम्परा मे अर्हत, सिद्ध साधु और केवली प्रज्ञप्त धर्म, इन चार को मंगल और लोकोमत्त माना गया है। साधु तीन प्रकार के बताए गए है। १ आचार्य २ उपाध्याय और ३ सर्व (साधारण) साधु। उसी प्रकार केवली भगवान के उपदेश को जिनवाणी या श्रुत भी कहा जाता है। इन्ही पच परमेष्ठियो और श्रुतदेवता की पूजा करने का विधान प्राचीन जैन ग्रथो मे मिलता है।[1] शासन देवताओ, दिक्पालो तथा नवग्रहो आदि को पूजा का अश देकर उनका सम्मान करने की परम्परा जैनों मे पश्चात्काल मे प्रचलित हुई।

अनेक जैन ग्रन्थो मे जिन पूजा की आवश्यकता और उसकी विधि का वर्णन किया गया है। किन्ही आचार्यो ने इसे वैयावृत्य का अग माना है जैसे समन्तभद्र ने रत्नकरडश्रावकाचार मे और किन्ही ने सामयिक शिक्षाव्रत मे सम्मिलित किया है, जैसे सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू मे। जिनसेन आचार्य के आदि पुराण मे पूजा श्रावक के निरपेक्ष कर्म के रूप मे अनुशसित है।

पूजन छह प्रकार की बतायी गयी है, १ नामपूजा, २. स्थापना पूजा, ३ द्रव्यपूजा, ४. क्षेत्रपूजा, ५. कालपूजा और ६. भावपूजा।[2] इनमे से स्थापना के दो भेद किए गए है, एक तो सद्भाव स्थापना और दूसरी असद्भाव स्थापना। प्रतिष्ठेय की तदाकार सागोपाग प्रतिमा बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करना सद्भाव स्थापना और शिला, पूर्णकुभ, अक्षत, रत्न, पुष्प, आसन आदि प्रतिष्ठेय से भिन्न आकार की वस्तुओ मे प्रतिष्ठेय का न्यास करना असद्भाव-स्थापना है।[3] वर्तमान अवसर्पिणी काल मे असद्भाव स्थापना पूजा का जैन ग्रन्थकारो ने अक्सर निषेध किया है। वर्तमान काल मे लोग कुलिगमति से मोहित होते हैं, इस कारण वे असद्भाव स्थापना से अन्यथा कल्पना भी कर सकते हैं।[4] अतएव वसुनन्दि ने कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओ की ही पूजा को स्थापना पूजा कहा है।[5]

प्राणियो के आभ्यतर मल को गलाकर दूर करने वाला और आनन्ददाता होने

के कारण मगल पूजनीय है। पूजा के समान मगल के भी छह प्रकार जैन ग्रन्थकारो ने बताये हैं। वे हैं, १ नाममगल, २ स्थापना मगल, ३ द्रव्यमगल ४ क्षेत्रमगल, ५ कालमगल, और ६ भावमगल।[6] कृत्रिम और अकृत्रिम जिन बिम्बो को स्थापनामगल माना गया है।[7] प्रतिष्ठासारोद्धार और पदमानन्द-महाकाव्य मे जिनेन्द्र की प्रतिमाओ को स्थापनाजिन या स्थापना अर्हत् की सज्ञा दी गयी हैं।[8] जयसेन के अनुसार, जिन बिम्ब का निर्माण करना मगल है।[9] भाग्यवान गृहस्थो के लिए अपने (न्यायोपात्त) धर्म को सार्थक बनाने हेतु चैत्य और चैत्यालय के बिना कोई अन्य उपाय नही है।[10]

जिन प्रतिमा के दर्शन कर चिदानन्द जिन का स्मरण होता है अतएव जिन-बिम्ब का निर्माण कराया जाता है तथा उनमे जिन भगवान और उनके गुणो की प्रतिष्ठा कर उनकी पूजा की जाती है। जैन मान्यता है कि प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर बहत्तर जिन मन्दिरो का निर्माण करवाकर उनमे जिन प्रतिमाओ की स्थापना कराई थी और तब से ही जैन प्रतिमाओ की स्थापना विधि की परम्परा चली।[11] स्थापनाविधि या प्रतिष्ठा-विधि का विस्तार से अथवा सक्षिप्त वर्णन करने वाले पचासो ग्रन्थ जैन साहित्य मे उपलब्ध हैं। वस्तुत' वे सभी मध्यकाल की रचनाए हैं। पर ऐसा नही है कि उन ग्रन्थो की रचना से पूर्व जैन प्रतिमाओ का निर्माण नही होता था। वस्तुत अति प्राचीनकाल मे जैन प्रतिमाओ का निर्माण और उनकी स्थापना होती रही है, इस तथ्य की पुष्टि निश्शकरूपेण पुरातत्वीय प्रमाणो और प्रचीन जैन साहित्य के उल्लेखो से होती है। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवनकाल मे, उनके दीक्षा लेने से पूर्व, उनकी चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा निर्मित की गयी थी।[12] हाथीगुफा प्रशस्ति मे नन्दराज द्वारा कलिंग की जिनप्रतिमा मगध ले जाये जाने का उल्लेख है। वैसे तो कुछ विद्वान हडप्पा की प्रतिमा के कबन्ध को जैन प्रतिमाओ का आवरूप स्वीकार करते हैं, पर लोहानीपुर से प्राप्त और वर्तमान मे पटना सग्रहालय में प्रदर्शित जिन प्रतिमाएं तथा खडगिरि (उडीसा) और मथुरा मे उपलब्ध विपुल शिल्प प्रतिमाए और आयागपट्ट आदि, जैन प्रतिमा निर्माण के प्राचीनतर नमूने है। मथुरा के ककालीटीले से प्राप्त उक्त कलाकृतियो मे विभिन्न जिन प्रतिमाओ के अतिरिक्त स्तूप, चैत्यवृक्ष, ध्वजस्तम्भ, धर्मचक्र, और अष्टमगल द्रव्य आदि का रूपाकन मिला है। देवी सरस्वती और नेगमेष की प्राचीन प्रतिमाए भी मथुरा मे प्राप्त हुई हैं। उसी प्रकार, बम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय की पार्श्वनाथ प्रतिमा लगभग २१ सौ वर्ष प्राचीन आकी गई है।

उपलब्ध जैन आगमो के पूर्ववर्ती विद्यानुवाद नामक दशवे और क्रियाविशाल

जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए भी मूल्यवान है। आचार्य समन्तभद्र का स्वयभूस्तोत्र इस विषयक प्राचीनतर कृति है। पाचवी-छठी शताब्दी मे मानतु ग ने भक्तामर स्तोत्र और कुमुदचन्द्र ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र की रचना की थी। इनमे क्रमश आदिनाथ और पार्श्वनाथ की स्तुति है। इन दोनो स्तोत्रो का जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो मे प्रचार हैं। धनजय कवि ने सातवी शतव्दी मे विपापहार स्तोत्र की और वादिराज ने ग्यारहवी शताब्दी मे एकीभाव स्तोत्र की रचना की। जिनसहस्त्रनाम स्तोत्रो मे भगवान जिनेन्द्रदेव को ब्रह्मा, विष्णु आदि नामो से भी स्मरण किया गया है। सिद्धसेन दिवकार के जिन सहस्त्रनाम स्तोत्र का उल्लेख मिलता है। नौवी शताब्दी ईस्वी मे आचार्य जिनसेन ने, तेरहवी शताब्दी मे आशाधर पडित ने, सोलहवी शताब्दी मे मेघविजयगणि ने और सत्रहवी शताब्दी मे विनयविजय उपाध्याय ने जिनसहस्त्र नाम स्तोत्रो की रचना की थी। वप्पभट्टि, शोभनमुनि और मेरूविजय की स्तुति चर्तुविंशतिकायें भी प्रसिद्ध हैं। इन स्तोत्रो और स्तुतियो मे जिन भगवान के बिम्ब का शाब्दिक प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है।

अनेक आचार्यो और पडितो ने सरस्वती, चक्रेश्वरी, अम्बिका जैसी देवियो के स्तुतिपरक स्तोत्रो की भी रचना की थी। उदाहरण के लिए, आशाधर पडित रचित सरस्वती स्तुति, जिनप्रभसूरि कृत शारदास्तवन, साध्वी शिवार्या (आचार्य हेमचन्द्र सूरि—सम्पादक) द्वारा रचित पठित सिद्धसारस्वतस्तवन, जिनदत्तसूरि कृत अम्बिका स्तुति और महाभात्य वास्तुपाल विरचित अम्बिका स्तवन आदि नाम गिनाये जा सकते हैं। इन स्तुतियो मे उन-उन देवियो के वाहन, आयुध, रूप आदि का वर्णन किया गया है।

तात्रिक प्रभाव के कारण जैनो ने भी तरह तरह के यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, चक्र आदि की कल्पना की। सिद्धान्तरूप से तन्त्र की उपेक्षा करने वाले जैन आचार्यो को भी समय की माग से तान्त्रिक ग्रन्थो और कल्पो की रचना करनी पडी। यह स्थिति मुख्यत नौवी-दसवी शताब्दी के साथ आयी। उस प्रवाह मे हेलाचार्य, इन्द्रनन्दि और मल्लिषेण जैसे दिग्गजो ने तान्त्रिक देवियो की साधना की और लौकिक कीर्यसिद्धि प्राप्त की। हेलाचार्य ने ज्वालिनी-कल्प की रचना की थी। उल्लेख मिलता है कि उन्होने स्वय ज्वालिनी देवी के आदेश से वह रचना की। हेलाचार्य द्रविड मघ के गणधीश थे। दक्षिण देश के हेम नामक ग्राम मे किसी ब्रह्मराक्षस ने उनकी कमलश्री नामक शिष्या को ग्रसित कर लिया था। उस ब्रह्मराक्षस से शिष्या की मुक्ति के लिए हेलाचार्य ने ग्राम के निकटवर्ती नीलगिरि शिखर पर वह्नि देवी को सिद्ध किया और ज्वालिनी मन्त्र उपलब्ध किया। परम्परागतरूप से वही मन्त्र गुणनन्दि के शिष्य इन्द्रनन्दि

को मिला, किन्तु उन्होने उस कठिन मन्त्र को आर्या गीता छदो मे रचकर सरली-कृत किया। इन्द्रनन्दि के ज्वालिनीकल्प की प्रतिया उत्तर और दक्षिण भारत के शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध हैं। उनमे दिए गए विवरण से विदित होता है कि ५00 श्लोक सख्या वाले इस कल्प की रचना कृष्णराज के राज्यकाल मे मान्यखेट कटक मे शक सवत् ८६१ की अक्षय तृतीया को सम्पूर्ण हुयी थी। इन्द्रनन्दि द्वारा रचित पद्मावतीपूजा की प्रतिया भी उपलब्ध हुयी हैं और उनक शिष्य वासव-नन्दि की कृतियो का भी उल्लेख मिला है।

मल्लिशेष श्रीषेण के पुत्र और आचार्य जिनसेन के अग्रशिष्य थे। उनके सुप्रसिद्ध मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ भैरवपद्मावतीकल्प का दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो मे प्रचार रहा है। उस ग्रन्थ मे ४०० श्लोक हैं। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी मे इस मान्त्रिक विद्वान की उपाधि उभयभाषाकविशेखर थी। उनके द्वारा रचित विद्यानुवाद, कामचाण्डालिनीकल्प, यक्षिणीकल्प और ज्वालिनी-कल्प की प्रतियां भी विभिन्न शास्त्रभण्डारो मे सुरक्षित है। सागरचन्द्रसूरि के मन्त्राधिराजकल्प मे यक्षयक्षिणीयो तथा अन्य देवताओ की आराधना की गयी है। भट्टारक विजयकीर्ति और उनके शिष्य मलयकीर्ति के सरस्वतीकल्प, भट्टारक अरिष्टनेमिका श्रीदेवीकल्प, भट्टारिक शुभचन्द्र का अम्विकाकल्प, यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का अदभुतपद्मावतीकल्प, ये सभी तान्त्रिक प्रभावयुक्त है। इनमे देवियो के वर्ण, वाहन, आयुध आदि का विवरण उपलब्ध होने मे ये जैन प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। लोकानुसरण करते हुए जैन आचार्यो ने ६४ योगिनियो और ९६ क्षेत्रपालो की स्तुतियाँ और पूजा-विधि सम्बन्धी कृतियो की भी रचना की और उनका प्रचार किया।

श्रावकाचार युग मे श्रावकाचार ग्रन्थो, सहिताओ और प्रतिष्ठापाठो की रचनाएँ हुयी। इन्द्रनन्दि और एकसधि भट्टारक की जिन सहिताओ की प्रतियाँ उत्तर भारत मे आरा, दक्षिण मे मूडबिद्री और पश्चिम मे राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध हुयी हैं। उपासकाध्ययन नामक श्रावकाचार ग्रन्थ का उल्लेख अनेक कृतिकारो ने यथास्थान किया है। पूज्यपाद द्वारा रचित उपासकाध्ययन का भी उल्लेख मिलता हे। सोमदेवसुरि के यशस्तिलक चम्पू के एक भाग का नाम उपासकाध्ययन है। वसुनन्दि ने उपासकाध्ययन का उल्लेख किया है पर उनका तात्पर्य किस विशिष्ट कृति से है, यह ज्ञात नही हो सका है। स्वय वसुनन्दि ने श्रावकाचार विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी।
राय ने अपने चारित्रसार मे 'उक्त च उपासकाध्ययने' लिखकर
उद्धृत किया है किन्तु वह श्लोक किसी उपलब्ध ग्रन्थ मे भून्त

प्रतिष्ठाग्रन्थो मे से जयसेन या वसुविन्दु कृत प्रतिष्ठापाठ मे शासन देवताओ और यक्षो की पूजा का विधान नही मिलता। इस प्रतिष्ठापाठ की प्रकाशित प्रति मे जयसेन कुन्द-कुन्द आचार्य के अग्रशिष्य बताये गये हैं। ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बताते हुए सूचित किया गया है कि सह्याद्रि पर्वत से पूत सीमायुक्त कोंकण देश मे रत्नगिरि शिखर पर लालट्ट राजा ने दीर्घ चैत्य का निर्माण कराया था। उस कार्य के निमित्त, गुरु की आज्ञा प्राप्त कर, जयसेन ने दो दिनो मे ही प्रतिष्ठापाठ की रचना की।[13] विक्रम सवत् १०५५ मे रचित धर्मरत्नाकर के कर्त्ता का नाम भी जयसेन था। किन्तु यह कहना कठिन है कि धर्मरत्नाकर के रचयिता जयसेन और वसुविन्दु अपर नाम वाले जयसेन अभिन्न हैं अथवा नही।

प्रतिष्ठासारसग्रह के रचयिता वसुनन्दि के श्रावकाचार का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वे आशाधर पडित और अय्यपार्य से पूर्ववर्ती थे क्योकि इन दोनो ने ही अपने-अपने ग्रन्थो मे वसुनन्दि के मत का उल्लेख किया है। प्रतिष्ठासारसग्रह की रचना के लिए वसुनन्दि ने चन्द्रप्रज्ञप्ति के साथ महापुराण से भी सार ग्रहण किया था। आशाधर पडित के प्रतिष्ठासारोद्धार की रचना विक्रम सवत् १२८५ मे आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को परमार नरेश देवपाल के राज्यकाल मे नलकच्छपुर के नेमिनाथ चैत्यालय मे सम्पूर्ण हुयी थी। ग्रन्थ की प्रशस्ति मे[14] उल्लेख किया गया है कि प्राचीन जिनप्रतिष्ठा ग्रन्थो का भलीभाँति अध्ययन कर और ऐन्द्र (सम्भवत इन्द्रनन्दि) के व्यवहार का अवलोकन कर आम्नाय विच्छेदरूपी तम को छेदने के लिए युगानुरूप ग्रन्थ की रचना की गयी। आशाधर जी ने वसुनन्दि के पक्षधर विद्वानो के विपरीत मत का भी उल्लेख किया है।[15] आशाधर के प्रतिष्ठासारोद्धार का प्रचार केल्हण नामक प्रतिष्ठाचार्य ने अनेक प्रतिष्ठाओ मे पढकर किया था।

नेमिचन्द्र का प्रतिष्ठातिलक भी बहुप्रचारित ग्रन्थ है। उसमे इन्द्रनन्दि की रचना का उल्लेख है। नेमिचन्द्र जन्मना ब्राह्मण थे। प्रतिष्ठातिलक की पुष्पिका मे उन्होने लिखा है कि भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित ब्राह्मणवश मे से कुछ विवेकियो ने जैन धर्म को नही छोडा। उस वश मे भट्टारक अकलक, इन्द्रनन्दि मुनि, अनतवीर्य, वीरसेन, जिनसेन, वादीभसिंह, वादिराज, हस्तिमल्ल (गृहाश्रमी) परवादिमल्ल मुनि हुये। उन्ही के अन्वय मे लोकपाल नामक विद्वान द्विज हुआ जो गृहस्थाचार्य था और चोलराजा उसकी पूजा करते थे। राजा के साथ लोकपाल कर्णाटक मे प्रतिदेश पहुँचा। वहाँ उसकी वश परम्परा मे समयनाथ, कवि राजमल्ल, चिंतामणि, अनतवीर्य, सगीतज्ञ पायनाथ, आयुर्वेदज्ञ पार्श्वनाथ और षट्कर्मज्ञाता ब्रह्मदेव हुये। ब्रह्मदेव का पुत्र देवेन्द्र सहिताशास्त्र का ज्ञाता था।

उनके आदिनाथ, नेमिचद्र और विजयपये पुत्र थे। इन्ही नेमिचद्र के द्वारा प्रतिष्ठा-तिलक की रचना की गयी।

नेमिचद्र की माता का नाम आदिदेविका बताया गया है। नाना विजयपार्य थे और नानी का नाम श्रीमती था।

नेमिचन्द्र के तीन मामा थे, चद्रपार्य, ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ। उनके ज्येष्ठ भ्राता आदिनाथ के त्रैलोक्यनाथ, जिनचद्र आदि स्वय नेमिचन्द्र के कल्याणनाथ और धर्मशेखर तथा कनिष्ठ भ्राता विजय के समन्तभद्र नामक पुत्र हुये, नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की प्रशस्ति मे विजयकीर्ति नामक आचार्य का स्मरण किया है। पर किस प्रसग मे, यह वहा स्पष्ट नही है। अभयचन्द्र नामक महोपाध्याय से नेमिचन्द्र ने तर्क, व्याकरण और आगम आदि की शिक्षा प्राप्त की थी एव सत्य-शासन परीक्षा प्रकरण तथा अन्य ग्रन्थो की रचना की थी। प्रतिष्ठातिलक की प्रशस्ति मे बताया गया है कि नेमिचन्द्र को राजा से पालकी, छत्र आदि वैभव प्राप्त हुये थे। उसी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनका परिवार समृद्ध था। नेमिचन्द्र ने जैन मन्दिर, मडप, वीथिक आदि का निर्माण कराया था और पार्श्वनाथ मदिर मे गीत, वाद्य, नृत्य आदि का प्रबन्ध किया था। नेमिचन्द्र स्थिरकदम्ब नगर मे निवास करते थे। अपने पुत्रो और बन्धुओ की प्रार्थना पर उन्होने प्रतिष्ठातिलक की रचना की थी।

हस्तिमल्ल के प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख अय्यपार्य ने किया है। किन्तु उस ग्रथ की प्रमाणित प्रति अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है। आरा के जैन सिद्धान्त भवन मे सुरक्षित प्रतिष्ठापाठ नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के कर्ता सभवतः हस्ति-मल्ल हो सकते हैं। अय्यपार्य का प्रतिष्ठाग्रथ जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय के नाम से ज्ञात है। वे हस्तिमल्ल के अन्वय मे हुये थे ओर उनका गोत्र काश्यप था। अय्यप के पिता का नाम करुणाकर और माता का नाम अर्कमाम्बा था। करुणाकर गुणवीर-सूरि के शिष्य पुष्पसेन के शिष्य थे। अय्यप के गुरु धरसेन आचार्य थे। अय्यप के जिनेन्द्रकल्याणाम्भ्युदय मे ३५६० श्लोक हैं। वह रूद्रकुमार के राज्य मे एक शिलानगरी मे शक सवत् १२४१ मे माघ सुदी १० रविवार को सम्पूर्ण हुआ था।[16] अय्यपार्य ने सूचित किया है कि उन्होने वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल के ग्रथो का सार लेकर पुष्पसेन गुरू के उपदेश से ग्रन्थ को रचना की है।

वादि कुमुदचन्द्र के प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण या जिनसहिता की प्रतिया कई स्थानो मे उपलब्ध हैं। मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी मे सुरक्षित प्रति की उत्थानिका और पुष्पिका से ज्ञात होता है कि कुमुदचन्द्र माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे जिनका स्वय एक प्रतिष्ठाकल्प उपलब्ध है। भट्टाकलक

के प्रतिष्ठाकल्प, वसुनन्दि के प्रतिष्ठातिलक, भट्टारक राजकीर्ति के प्रतिष्ठादर्श, पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेन के प्रतिष्ठादीपक, पण्डित परमानन्द की सिंहासनप्रतिष्ठा आदि-आदि रचनाओ की हस्तलिखित प्रतिया आरा, जयपुर तथा अन्य स्थानो के शास्त्रभण्डारो मे अद्यावधि सुरक्षित है। ये सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रथ हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के सकलचन्द्र उपाध्याय का प्रतिष्ठापाठ गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है। उसमे हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्र, श्यामाचार्य, गुणरत्नाकरसूरि और जगच्चन्द्रसूरीश्वर के प्रतिष्ठाकल्पो का उल्लेख किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के ही आचार दिनकर मे प्रतिष्ठाविधि का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्ता वर्धमानसूरि ने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो शाखाओ मे शाखाचार का विचार कर आवश्यक मे उक्त आचार का स्थापन किया है। उन्होने चन्द्रसूरि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनकी लघुतर प्रतिष्ठा विधि को आचार दिनकर मे विस्तार से कहा गया है। वर्धमानसूरि ने आर्यनन्दि, क्षपक चदननन्दि, इन्द्रनन्दि और वज्रस्वामी के प्रतिष्ठाकल्पो का अध्ययन किया था। आचार दिनकर की रचना विक्रम सवत् १४६८ मे, कार्तिकी पूर्णिमा को अनन्तपाल के राज्य मे जालधरभूषण नन्दवन नामकपुर मे पूर्ण हुई थी।[17]

श्वेताम्बर शाखा का निर्वाण-कलिका नामक ग्रथ जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसका प्रतिमालक्षण स्पष्ट और सुबोध है। ग्रंथ पादलिप्तसूरि कृत कहा जाता है किन्तु वे पश्चात्कालीन आचार्य थे। निर्वाण कलिका के अतिरिक्त नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार और जिनदत्तसूरि के विवेकाविलास मे भी जैन प्रतिमाशास्त्रीय विवरण मिलते हैं।

दिगम्बर शाखा के बोधपाहुड, भावसग्रह, यशस्तिलकचम्पू, प्रवचनसार, धर्मरत्नाकर आदि ग्रन्थो मे जिनपूजा का निर्देश मिलता है। सातवी शताब्दी ईस्वी मे जटासिहनन्दी द्वारा रचित पौराणिक काव्य वरागचरित के २२–२३ वें सर्ग मे जिनपूजा और अभिषेक का वर्णन है किन्तु उसमे दिक्पालादिक के आवाहन का नामोल्लेख भी नही है। इससे ज्ञात होता है कि जैन पूजा विधान मे दिक्पालादिक को पश्चातकाल मे १०वी-११वी शताब्दी के लगभग महत्व दिया गया। सोमदेवसूरि और आशाधर के ग्रन्थो मे दिक्पालादिक को बलि प्रदान करने का विधान है। जान पडता है कि सोमदेव के समय मे दक्षिण भारतीय जैनो मे शासन देवताओ की बडी प्रतिष्ठा थी। इसी कारण, सोमदेव को अपने 'उपासकाध्ययन के ध्यान प्रकरण मे स्पष्ट उल्लेख करना पडा कि तीनो लोको के दृष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादिक देवताओ को जो पूजा विधानो मे समान रूप से

देखता है, वह नरक मे जाता है।[18] सोमदेवसूरि ने स्वीकार किया है कि परमागम मे शासन की रक्षा के लिए शासन देवताओ की कल्पना की गयी है। अत सम्यग्दृष्टि उन्हे पूजा का अश देकर उनका केवल सम्मान करते हैं।

जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए हरिभद्रसूरि कृत पञ्चवास्तु प्रकरण और ठक्कर फेरू रचित वास्तुसारप्रकरण विशेष उपयोगी ग्रन्थ है। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थकल्प से भी जिन मन्दिरो और जिन विम्वो के इतिहास पर प्रकाश पडता है।

अनेक जैनेतर ग्रथो मे जैन प्रतिमा शास्त्रीय ज्ञान सन्निहित है। गुप्तकालीन मानसार के ५५ वे अध्याय मे जैन लक्षण विधान पर इसके रचियता का दृष्टि-कोण अनुदार प्रतीत होता है। वराहमिहिर की वृहत्सहिता मे जैन प्रतिमाओ के लक्षण बताये गये है। अभिलषितार्थ चिन्तामणि (१२ वी शताब्दी), अपराजित-पृच्छा (१२ वी—१३ वी शती), राजवल्भ, दीपार्णव, देवतामूर्तिप्रकरण और रूपमडन मे भी तीर्थकरो और शासन देवताओ की प्रतिमाओ के लक्षण बताये गये हैं। आधुनिक काल मे, जेम्स वर्जेस, देवदत्त भण्डारकर, वी० सी० भट्टाचार्य, टी० एन० रामचद्रन, डाक्टर साकलिया, डाक्टर उमाकान्त परमानन्द शाह, बाबू छोटे लाल जैन प्रभृति विद्वानो ने जैन प्रतिभा शास्त्र विषय अनुसधानात्मक प्रबन्ध प्रकाशित किये है। डाक्टर जिनेन्द्रनाथ शुक्ल, आर० एस० गुप्ते तथा अन्य विद्वानो ने भी अपने प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थो मे जैन प्रतिमाशास्त्र विषयक जानकारी सम्मिलित की है। ये सभी ग्रथ जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के आधारभूत है।

संदर्भ सकेत

१ जिणसिद्धसूरिपाठयसाहूण ज सुयस्य विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण त पूजगणविहाण॥
वसुनन्दि श्रावकाचार, २८०

२ वही, ३८१

३ भट्टवकलकक्रुत प्रतिष्ठाकल्प।

४ वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८५, आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्वार, ६/६३

५ एवचिरतमाण कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाण।
जै कीरइ बहुमाण ठवणापुज्जहि त जाण॥
वसुनन्दि श्रवकाचार, ४४६

६ तिलीयपणत्ती, १/१८.

(शेप पृष्ठ 95 पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की अप्रकाशित हिन्दी टीकाएं

—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

देश मे आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्त्राब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे स्थान-स्थान पर समारोह आयोजित किये जा रहे हैं। समस्त जैन समाज एक जुट होकर द्विसहस्त्राब्दी समारोह मनाने मे लग गया है। इस समारोह के प्रति न किसी मे मतभेद है और न उपेक्षा के भाव हैं। यह एक शुभ लक्षण है और समाज को भावात्मक एकता के सूत्र मे बाधने का एक अच्छा अवसर है।

वैसे तो आचार्य कुन्दकुन्द का नाम ही मगल स्वरूप है। हम प्रतिदिन उनके नाम का स्मरण करते हैं। किसी भी शुभ कार्य मे उनके नाम को याद किया जाता है क्योकि उनका सम्पूर्ण जीवन ही विलक्षण घटनाओ से परिपूर्ण रहा है। उन्होने दिगम्बर धर्म को चौबीस तीर्थंकरो के प्राचीनतम धर्म के रूप मे सिद्ध किया। विदेह क्षेत्र मे सीमधर स्वामी के समवसरण मे जाना ही उनके जीवन का अद्‌भुत कार्य रहा जिसका कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता। इसलिए उनका नाम ही समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए पुण्य स्मरण रूप है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सबसे विलक्षण उपहार साहित्य है जो विगत दो हजार वर्षों से सर्वाधिक चर्चित रहा है। उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे ग्रथो के नाम उनके बाद होने वाले सभी आचार्यों, साधुओ, भट्टारको, पडितो, कवियो, टीकाकारो एव स्वाध्याय प्रेमियो को याद रहे है और यही कारण है उनका स्वाध्याय, पठन-पाठन, लेखन-लिखावट, टीकाकरण, भाषाकरण सभी कार्य अबाध गति से होते रहे और आज उनका ढेर सारा साहित्य पाण्डुलिपियो एव छपे हुए ग्रथो के रूप मे उपलब्ध हो रहा है। उनके ग्रथो मे समयसार सबसे उत्तम ग्रथ माना जाता है। इसलिए समयसार का स्वाध्याय, प्रवचन एव मनन चिन्तन प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक माना गया है। यही कारण है कि स्वाध्याय प्रेमी अपने आप को समयसारी कहलाने मे गौरव अनुभव करने लगे। आचार्य अमृत-

चन्द, आचार्य जयसेन जैसे धाकड (प्रभावशाली) आचार्यो ने उन पर टीकाए लिखकर उनको लोकप्रिय बनाने मे सर्वाधिक योग दिया। इन टीकाओ के कारण समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय जैसे ग्रथो का और भी प्रचार-प्रसार हो गया और इन टीकाओ के आधार पर उनका धड़ल्ले से स्वाध्याय होने लगा। यही नही प्रवचनकर्त्ताओ ने आत्मा-परमात्मा, निश्चय-व्यवहार, उपादान निमित्त, भेद-विज्ञान जैसे विषयो को अपने प्रवचनो का मुख्य आधार बनाया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि 84 पाहुड ग्रथो की रचना की थी लेकिन उनमे से अब तक 23 पाहुड ग्रथ मिल सके है जिनके नाम निम्न प्रकार है.—

1 समयसार	2 प्रवचनसार
3. पचास्तिकाय	4. नियमसार
5. वारस-अणुवेक्खा	6 दसण पाहुण
7 चारित्त पाहुड	8 सुत्त पाहुड
9 बोध पाहुड	10. भाव पहुड
11. मोक्ख पाहुड	12 लिग पाहुड
13 शील पाहुड	14 रयणसार
15 सिद्ध भक्ति	16 श्रुत भक्ति
17 चारित्त भक्ति	18 योगि भक्ति
19 आचार्य भक्ति	20 निर्माण भक्ति
21 परमेष्ठि भक्ति	22 थौस्सामि थुदी
23 मूलाचार	

उक्त 23 ग्रथो के अतिरिक्त तिरुक्कुरल को भी कुछ विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानते हैं। तथा रयणसार एव मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नही मानते हैं।

प्रवचनसार

प्रवचनसार आचर्य कुन्दकुन्द की महत्वपूर्ण कृति के रूप मे चर्चित है। यह समयसार के बाद की रचना है तथा सीमधर स्वामी के समवसरण से लौटने के पश्चात् उनके प्रवचनो के सार के रूप मे लिखी गई कृति है इसलिए उसका नाम भी प्रवचनसार रखा गया प्रतीत होता है। एक ओर जहा समयसार की भाषा शौरसैनी प्राकृत है वहा प्रवचनसार की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है लेकिन पिशल ने प्रवचनसार की भाषा को शौरसैनी प्राकृत लिखा है। इसलिए इसका निर्माण महाराष्ट्र के किसी भाग मे हुआ होगा। ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

प्रवचनसार को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रुतस्कंध मे ज्ञान की चर्चा की गई है इसलिए वह ज्ञानाधिकार के नाम से जाना जाता है। दूसरे श्रुतस्कध मे ज्ञेय तत्व की चर्चा है इसलिए उसे ज्ञेयाधिकार नाम दिया गया है। तीसरे श्रुतस्कध मे चारित्र तत्त्व का वर्णन मिलता है इसलिए उसे चरित्राधिकार नाम से सबोधित किया गया है।

पाडुलिपिया

राजस्थान एव देश के अन्य प्रदेशो के शास्त्र भण्डारो मे प्रवचनसार की सैकडो पाडुलिपिया सुरक्षित है। लेकिन हमारी स्वाध्याय के प्रति विशेष रूचि नही होने के कारण प्रवचनसार विशेष लोकप्रिय नही बन सका। पाश्चात्य विद्वान बूलर, डॉ० जैकोबी, न्यूमैन पिशल को प्रवनसार के अस्तित्व का बहुत बाद मे पता चला। लेकिन जब उन्होने इस कृति को पढा तो वे इसके विषय, भाषा एव शैली को देखकर आश्चर्य करने लगे।

मूल गाथाए

प्रवचनसार की मूल गाथाओ मे भी अमृतचन्द्र एव जयसेन एक मत नही हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार की अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका 275 गाथाओ पर लिखी है जबकि आचार्य जयसेन ने 311 गाथाओ पर टीका लिखी है। दानो का तीनो अधिकारो के अनुसार निम्न प्रकार गाथाए हैं—

	अमृतचन्द्र	जयसेन
ज्ञान तत्त्व	92	101
श्रेय तत्त्व	108	113
चारित्र तत्त्व	75	97
योग	275	311

इस प्रकार दोनो आचार्यों की टीकाओ मे 36 गाथाओ का अन्तर है। कन्नड कवि बालचन्द्र एव संस्कृत कवि प्रभाचन्द्र दोनो ही आचार्य जयसेन के मत का समर्थन करते हैं। डॉ० उपाध्याय के अनुसार ये गाथायें अतिरिक्त गाथाये है यदि ये न भी रहे तो भी प्रवचनसार की मूल भावना मे कोई अन्तर नही आता।

समयसार की तरह प्रवचनसार पर भी सस्कृत और हिन्दी मे पर्याप्त सख्या मे टीकाए लिखी गई हैं। जिससे इस ग्रथ की भी लोकप्रियता का बोध होता है।

संस्कृत टीकाओ का परिचय निम्न प्रकार है—

1—आचार्य अमृतचन्द्र	तत्त्वदीपिका टीका
2—आचार्य जयसेन	तात्पर्यवृति
3—प्रभाचन्द्र	सरोजभास्कर
4—मल्लिषेण	सस्कृत टीका।

एक प्रभाचन्द्र और भी हुए थे जिन्होने देहली मे फिरोजशाह तुगलक के दरबार मे राघोचेतन से विवाद किया था और जैन धर्म की महती प्रभावना की थी। ये 14वी शताब्दी मे भट्ठारक थे।

हिन्दी टीकाएं :

सस्कृत टीकाओ के समान प्रवचनसार पर हिन्दी टीकाए भी पर्याप्त सख्या मे मिलती है। अब तक निम्न हिन्दी टीकाओ की जानकारी मिल चुकी है—

पाण्डे हेमराज बालावबोध भाषा टीका रचना सवत् 1709

,, ,,	प्रवचनसार पद्य			
जोधराज गोदीका	प्रवचनसार	,,	,,	1726
प० देवीदास	प्रवचन भाषा	,,	,,	1824
वृन्दावनदास	प्रवचनसार	,,	,,	1905

प्रवनसार पर अब तक उक्त पाच टीकाए अथवा उसका हिन्दी रूपान्तर अब तक हमे प्राप्त हो चुका है। इसमे पाण्डे हेमराज प्रथम पडित थे जिन्होने प्रवचनसार पर हिन्दी गद्य टीका एव पद्यानुवाद दोनो ही लिखने का श्रेय प्राप्त है।

1. प्रवचनसार भाषा (गद्य) :

कविवर बुलाकीदास ने अपने पाडवपुराण मे हेमराज का परिचय देते समय जिन दो ग्रथो की भाषा लिखने का उल्लेख किया है उनमे प्रवचनसार भापा का नाम सर्वप्रथम लिखा है—

> जिन आगम अनुसार तें, भाषा प्रवचनसार।
> पचअस्ति काया अपर, कीनै सुगम विचार।। 35।।

(पाडवपुराराण, प्रथम प्रभाव)

इससे ज्ञात होता है कि इस समय हेमराज का प्रवचनसार भापा अत्यधिक लोकप्रिय कृति मानी जाने लगी थी। महाकवि बनारसीदास द्वारा समयसार नाटक लिखने के पश्चात आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत रचनाओ पर जिस वेग से हिन्दी टीका लिखी जाने लगी थी प्रस्तुत प्रवचनसार भाषा भी उसी का एक सुपरिणाम है। यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

2 प्रवचनसार भाषा (पद्य)

प्रवचनसार की हिन्दी गद्य टीका की ही अभी तक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रथो एवं शोध निबंधो में उल्लेख किया है लेकिन इनकी प्रवचनसार पर पद्य टीका का कही उल्लेख नही मिलता । प० परमानन्द जी शास्त्री जैसे विद्वान ने भी हेमराज की गद्य वाली टीका का ही नामोल्लेख किया है लेकिन सौभाग्य से मुझे इसकी एक पद्य टीका वाली पांडुलिपि उपलब्ध हुई है जिसका परिचय निम्न प्रकार है—

हेमराज ने प्रवचनसार का पद्यानुवाद भी इसी दिन समाप्त किया जिस दिन उसकी गद्य टीका पूर्ण की थी जिससे ज्ञात होता है कि उन्होने प्रवचनसार पर गद्य-पद्य टीका एक ही साथ की थी । लेकिन जब उसकी गद्य टीका की पचासो पाडुलिपिया उपलब्ध होती हैं तब प्रवचनसार पद्य टीका की अभी तक पाडुलिपि उपलब्ध न होवें, यह बात समझना कठिन लगता है । इसका उत्तर एक यह भी दिया जा सकता है कि खण्डेलवाल जातीय दूसरे हेमराज ने भी पद्यानुवाद लिखा है इसलिए आगरा निवासी हेमराज के पद्यानुवाद को कम लोकप्रियता प्राप्त हो सकी ।

पद्य टीका मे 438 पद्य हैं जिसमे अतिम 11 पद्य तो वे ही हैं जो कवि ने प्रवचनसार गद्य टीका के अन्त मे लिखे हैं। प्रस्तुत कृति का प्रारम्भिक अश निम्न प्रकार है—

छप्पय—स्वयं सिद्ध करतार करै निज करम सरम निधि,
आपै करण स्वरूप होय साधन साधै विधि ।
समदछना धरै आपको आपै समप्पै,
अपाराब आपसे आपकौं कर थिर थप्पै ।
अधकरण होय आधा निज वरजै पूरण ब्रह्म पद,
षट् निधि द्वारिकामय विधि रहित विविध येक अजर अमर ।

दोहा—महातत्त्व महनीय यह, महाधाम गुणधाम ।
चिदानन्द परमातमा, बन्दू रमता राम ।2।
कुनय दमन सुरवनि अवनि, रमिनि स्यात पद शुद्ध ।
जिनवाणी मानी मुनिय, घट मे करोहू सुबुद्धि ।3।

चोपाई —पच इष्ट पद बदौ, सत्यरूप गुर गुण अभिनदौ ।
प्रवचन ग्रथ की टीका, बालबोध भाषा सयनीका ।4।

प्रवचनसार के तीन अधिकारो मे से प्रथम अधिकार मे 232 पद्य, तथा शेष

206 पद्यो मे दूसरा एवं तीसरा अधिकार है।

भाषा अत्यधिक सरल, सुबोध एव मधुर है। प्रवचनसार के गूढ विषय को कवि ने वहुत सरल शब्दो मे समझाया है। कोई भी पाठक उसे हृदयगम कर सकता है।

प्रवचनसार पद्य टीका की एक पाडुलिपि जयपुर के बधीचन्द जी के शास्त्र भण्डार मे सग्रहित है। इसमे 34 पद्य हैं तथा अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

'इति श्री प्रवचनसार भाषा पाडे हेमराज कृत सम्पूर्ण। लिखित दलसुख, लुहाडिया लिखी सवाई जयपुर मध्ये लिखी।'

प्रवचनसार-जोधराज गोदीका .

जोधराज गोदीका सागानेर के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम अमरा-भौसा था जो तेरहपथ के प्रमुख सस्थापक थे। जोधराज बडे भारी कवि थे तथा प्रवचनसार सहित कितने ही ग्रथो के रचयिता थे। सम्यक्त्व कौमुदी उनकी प्रमुख रचना मानी जाती है।

इन्होने सवत् 1726 मे प्रवचनसार भापा की रचना की थी। ग्रथ की प्रशस्ति मे कवि ने लिखा है कि प्रवचनसार की रचना सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। फिर उस पर अमृतचन्द ने टीका लिखी। अमृतचन्द की टीका को देखकर हेमराज ने हिन्दी मे प्रवचनसार का गद्य-पद्यानुवाद किया। इसके पश्चात जोधराज ने सवत् 1726 मे उसे फिर हिन्दी पद्य मे लिखकर एक और रचना मे अभिवृद्धि की थी। प्रवचनसार का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

प्रारभिक मगलाचरण—

परम ज्योति परमातमा नमौ सुद्ध परधान।
एक अनुपम जोध कहि सिव दायक सुखधान॥

प्रशस्ति—

कुन्दकुन्द मुनिराज वृत पूरन भये बखान।
अब कवि को व्यवर न कहो, सुनहु भाविक धरि कॉन॥
मूल ग्रथ करता भये, कुन्दकुन्द मुनिराय।
तिन प्राकृत गाथा करी, प्रथम महासुख पाय॥
तिन ऊपर टीका करी, अमृतचन्द सुखरूप।
सहसकृत अति ही सुगम, पडित पूज्य अनूप॥
ता टीका कौं देखि कं, हेमराज सुखधाम।
करी बचनिका अति सुगम, तत्त्व दीपिका नाम॥

देख बचनिका हर्षियो, जोधराज कविनाम ।
तब मन मे इह धारिके, कीयें कवित्त सुखधाम ।।
सम्रह से छत्रीस सुभ, विक्रम साक प्रमान ।
अरु भार्दो सुदि पचमी, पूरन ग्रथ बखान ।।
सुनय धरम हि सुख करन, सब भूपनिसिर भूप ।
मान वस जयस्यंघ सुव, रामस्यध सुख रूप ।।
ताके राज सु चैन सौं, कीयो ग्रथ यह जोध ।
सगानेरि सुथान मे, हिरदे धारि सुबोध ।।
जो कहू मेरी चूक हुवै, लीज्यो सन्त सुधारि ।
वरणछद कौं वेखि कै, गुण ओगुण सुविचारि ।।
यहा मिश्र हरिनाथ जी, रहौ सदा सुखरूप ।
ताकी सगति जो करी, पायो काव्यसरूप ।।

सवैया—

कोई देवी खेतपाल धीद्यासनिमानत है,
केई सती पित्र सीतला सौं कहै मेरा है ।
कोइ कहै सावलो कबीर पद कोई गावै,
केई दादू पंथी होय परे मोह घेरा है ।
कोई ख्वाजै परमान कोइ पथी नानिग के,
केई कहै महाबाहु महारूद्र चेरा है ।
यांही बारा पथ मे भरमि रह्यो सबै लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापथी तेरा है ।

इति श्री प्रवचनसार सिद्धाते जोधराज गोदीका विरचिते कवि वर्णन नाम द्वादश प्रभाव । सवत 1846 का कातिक सुदी 12 शुक्रवार सवपई जयपुर मे लिख्यौ अमल महाराजाधिराज श्री सवाई प्रतापसिह जी का मे पुस्तक जोधराज गोदीका की है सवत 1726 को लिख्यो तीसु लिखी पुस्तक जीवणराम गोधा रेणी का को । लिखत कहीराम बाकलीवाल सपतरामगोधा ।

प्रवचनसार भाषा टीका—देवीदास

17वी शताब्दी मे समयसार के समान प्रवचनसार का भाषानुवाद भी तेजी के साथ होने लगा । बनारसीदास ने जिस प्रकार समयसार को पद्यो मे गूथ दिया इसी तरह प० हेमराज ने प्रवचनसार को हिन्दी गद्य एव पद्य दोनो मे अनुदित कर अध्यात्म जगत का महान उपकार किया । बनारसीदास के समयसार की

रचना के 16 वर्ष बाद प्रवचनसार पर विशद एव गम्भीर अर्थ की द्योतक भाषा टीकाएं लिखी। पाण्डे हेमराज एव पं० जोधराज गोदीका के पश्चात प० देवीदास इस क्षेत्र मे आगे आए और उन्होने सवत 1824 सावन सुदी 8 सोमवार को दगौडो ग्राम मे प्रवचनसार की हिन्दी पद्य मे टीका लिखी।

प० देवीदाम दुगौडो ग्राम के निवासी थे। उतके पिता सतोषमनि थे। वे गोलालारे मे खरोवा वश के श्रावक थे। उस समय तक गोलालारे प्रमुख जाति थी और उसमे खरौवा एक वश अथवा गोत्र था। लेकिन कालान्तर मे यह खरौवा गोत्र स्वतन जाति बन गई जिसको 84 जैन जातियो मे गिना जाने लगा। कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

ओडछै को देसु जहा के सुहटे सिंध राजा।
दुगौडो सुग्राम जामै जैनी की धुकार है।
तहा के सुवासी संतोषमनि सुगोलालारे,
खरोवा सुवेश जाके धर्म विवहार है।
तिन्ही के सुपुत्र देवीदास तिन्ही पूरी करे,
ग्रंथ यह नाम याको प्रवचनसार है।
सवतु अठारासै सुचोवीस की सु साल,
सावन सुदी सु आठें परचौ सोमवार है।।10 पत्र 104 पर।

इसके पूर्व कवि ने प्रवचनसार के इतिहास पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—

प्रवचनसार यो गरथ जाके, करता कुन्दकुन्द मुनिराज भये प्राकृत के।
जाको शब्द कठिन करिके, सुसस्कृत कीनौ अमृतचद ने सुधारी महाव्रत के।
तिन्ही की परपरा सौ पाडे हेमराज जी ने बालबोध टीका देखि
कह्यो सोई मत के।
जाको भेद पाई देवीदास मुनि भाष धरयो।
माखन तैं होत जैसे करतार धूत के। 7। पत्र स० 95-96

चौपाई

प्रवचनसार कीसु यह टीका, भाषा बालबोध अति नीका।
जाको पढत सुनत सुख पायौ, करि सु कवित्त वध सुमुझायो। 8।

दोहरा

अगम अपार अथाह है यह गरथ गुणवत।
मैं मतिहीन कहा कहो, गणधर लह्यौ न अत। 9।

पूरे प्रवचनसार मे 419 छद हैं जिनका विभाजन निम्न प्रकार है—

सवैया इकतीम्गा	143
कवित्त छन्द	63
छप्पय	44
तेईसा कवित्त	41
चौपाई	36
दोहरा	80
कौडरी	14
अरिल्ल	8
गीतिका	3
साकिनी	1
सोरठा	1

लेकिन छन्दो की उक्त सख्या 434 आती है जो कवि द्वारा प्रयुक्त छन्दो से मेल नही खाती । छन्द निम्न प्रकार है—

एकु सैसु तेतालीस कहे इकतीसा सवै त्रैसठि,
कवित्त छन्द छप्पय चवालिस है ।
तेईसा कवित्त जेसु थरै इकतालिस जे,
चौपही सुछन्द तेमु सात उनतीस है ।
दोहरा सु असी कोडरीसु जे चतुर्दश है,
आठ हैं अरिल्ल तीन गीतकासु दीस है ।
साकिनी सु एक एक सोरठा जुरे समस्तछद,
जाति भेद चारि सै सुए उनीस हैं ।

कवि ने आगे लिखा है कि यदि 32 अक्षरो का अनुष्टप माना जावै तो ग्रथ की श्लोक सख्या 1500 होगी ।

प्रारम्भ मे वर्तमान 24 तीर्थकरो की छद मे स्तुति, भूत एव भविष्य मे होने वाले तीर्थकरो की वदना, विरहमान बीस तीर्थकरो की स्तुति, पचपमेष्ठियो की स्तुति, ग्रथ रचने मे लघुता, आदि वर्णन के पश्चात कवि ने प्रवचनसार के अधिकारो का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

महाग्यान को सु अधिकार सोहै प्रथम ही,
अधिकार दूसरो अतिन्द्री सुख भोग को ।
ग्यान तत्त्व दख सामान्य गेय अधिकार,
आचर्न कौमुदार जती कीथ रोग को ।

मोख पथ धारो सुद्धोपयोगी कौ अधिकार,
और अधिकार भारी सुत्र उपयोग कौ।
देवीदास कहै मै तो सु थोरी बुद्धि सौं वखानौ,
ग्रथ यौ खजानौ जानौ चरनान जोग कौ। 38। पत्र।

दोहरा—

पंच रत्न सिद्धान्त कौ मुकुट अन्त जे और,
तिन्ह समेत अधिकार दस सुनो भव्य सुख ठौर। 39।

कवि ने प्रत्येक गाथा का सारगर्भित हिन्दी पद्य मे अर्थ लिखा है जो अत्यधिक सराहनीय है। प्रस्तुत हिन्दी पद्य टीका अभी तक अप्रकाशित है तथा इस द्विसहस्त्राब्दी वर्ष मे प्रकाशन योग्य है। इस ग्रथ की एक मात्र पाण्डुलिपि जयपुर के तेरहपथी बडे मदिर मे सग्रहित है।

प्रवचनसार भाषा टीका—वृन्दावनदास

प्रवचनसार पर हिन्दी भाषा टीका लिखने वालो मे प० हेमराज, प० जोधराज, प० देवीदास का नाम आता है। वृन्दावनदास का नाम जैन जगत मे बहुत प्रसिद्ध रहा है। विगत 200 वर्षों से उनके द्वारा रचित चौवीस तीर्थंकर पूजा समस्त जैन समाज बहुत लोकप्रिय है और जो भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह भगवन के साथ वृन्दावन का नाम भी लेता है। उनकी सकट-हरण विनती हजारो श्रावक श्राविकाओ को कठस्थ याद है।

प्रवचनसार भाषा वृन्दावन कवि की प्रमुख रचना है। इसमे कवि ने गाथाओ का जो हिन्दी पद्य मे अर्थान्तर किया है वह अत्यधिक सरल एव समझ मे आने वाली है। यहा हम एक गाथा पाठको के अवलोकनार्थ उद्धत कर रहे हैं—

प्राकृत—जो णवि जाणदि जुगव, अत्थे विक्कायौ तिहुवणत्थे
णादुसस्सण सक्क सउज्जय दव्व मे म वा ॥ 49 ॥

सस्कृत—यो नवि जानातिजुगयत पदार्थनि त्रैकालिवानि त्रिभुवनस्थान
ज्ञातु तस्य न सक्य सपपर्य द्रव्य मे क वा ॥

मनहरण छन्द

तीनो लोक माहि जे पदारथ विराजै तिहु काल के अनंत
नत जासु मे विभेद है,
तिनको प्रत्यक्ष एक समै ही मै एकै बार, जो न जानि सकै

स्वच्छ अन्तर उछेद है।
सो न एक द्रव्य हू को सर्व परजाय जुत जानिवे की शक्ति
घरैं श्रैंसे भणैं वेद है,
तातैं ज्ञान छायिक की शक्ति व्यक्त, वृन्दावन सोई लखैं
आपापर सर्व भेर छेदे है।

कवि वृन्दावन ने प्रवचनसार भाषा को सवत 1907, जेठ महीने मे लिखना प्रारम्भ किया और सवत् 1905 वैशाख शुक्ला तृतीय को इमे पूरा किया अर्थात् साढे ग्यारह महीने मे एक महत्वपूर्ण ग्रथ का हिन्दी भाषानुवाद करने मे सफलता प्राप्त की।

चारि अधिक उन ईश सो समत विक्रम मय।
जेठ महीने मे कियो पुनि आरम्भ अनूप। 15।
पाच अधिक उनईश सौ घोष तीज वैशाख।
यह रचना पूरन भई पूजी मन अभिलाष। 16।

वृन्दावन दास बनारस के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम धर्मचन्द था, जो गोयल गोत्रीय अग्रवाल जाति के श्रावक थे। इनके एक भाई एव दो पुत्र थे। भाई का नाम महावीर एव पुत्रो का नाम अजितदास एव शिखरचन्द था। उदैराज समेचू ने इनके ग्रथ प्रवचनसार का सपादन किया था। जिसका कवि ने सम्मान के साथ उल्लेख किया है। प्रवचन सार भाषा का आदि-अन्त भाग निम्न-प्रकार है—

औम नमो अनेकात वादिने जिनाय। अथ श्री प्रवचनसार परमागम। अध्यात्म विद्या श्रीयुत कुन्दकुन्दाचार्य कृत मूल प्राकृत गाथा। ताकी सस्कृत टीका श्री अमृतचन्द आचार्य करी। ताकी देश भाषा वचनिका पाडे हेमराज नैं रची है। ताही के अनुसार सो वृन्दावन छद लिखे है। तहा प्रथम मगलाचरण इष्ट देव की स्तुति—छप्पै छन्द—

सिद्ध सदन बुद्धि वदन मदन मद कदन दहन रज,
लवधि लसन्त अनन्त वासगुणवत सत अज।
दुविधि धर्मनिधि कथन अविधि तम मथन दिवाकर,
विधन निधन करतार सकल सुख उदय सुधाधर।
शत इदे वृदे पद वदि भवि दद फद निकद कर
अरि शेष मौरन मग पोष निरदोष जयति जिजराज वर।

ग्रंथ प्रशस्ति विस्तृत है लेकिन वह कवि के जीवन वृत्त को जानने के लिए उपयोगी है इसलिए हम यहा पूरी प्रशस्ति दे रहे है—

छप्पय—जो यह शासन भली भाँति जानै भवि प्राणी,
श्रावक मुनि आचारन जासु मथि सुगुरू वरवाँनी।
सो थोरे ही कालमाहि शुद्धातम पावै,
द्वादशाक को सार भूत जो तत्व कहावै।
मुनि कुन्दकुन्द जयवत जिन परमागम प्रगट किय।
वृन्दावन को भव उदधि तै दे अवलम्ब उधार लिय। 95।

छप्पै— द्वादशाग जुत सिंध मथन करी रतन निकासा।
स्वपर भेद विज्ञान शुद्ध वारिथ प्रकासा।
सो इस प्रवचनसार माँहि गुरू वरणन कीना।
अध्यात्म को मूल लखहि अनुभवी प्रवीना।
मुनि कुन्दकुन्द कृत मूल जु सु अमृतचन्द्र टीका करी।
तसु हेमराज ने वचनिका रची अध्यात्म रस भरी। 97।

छद मनहरन—दो सौ पचिहत्तर पराक्रम की गाथा माँहि
कुन्दकुन्द स्वामी रची प्रवचनसार है।
अध्यातम वानी स्याद्वाद की निशानी
जाते स्वपर प्रकाश बोध होत निरधार है।
निकट सुभव्यही के भाव नौन माँहि याकी
दीपशिखा जगै भगै मोह अन्धकार है।
मुख्य फल मोख औ अमुख्य शक्र चक्र पद
वृन्दावन होत अनुक्रम भयवार है। 98।

अथ कवि व्यवस्था नाम कुलादि—

अग्रवाल कुलगोयल गोत वृन्दावन धरमी।
धरमचन्द जसुपिता सितावो माता परमी।
तिन निज मत मितवाल ख्याल सम छद वनाये।
काशी नगर मझारि सुपर हित हेत सुभाये।
प्रिय उदयराज उपगार तै अव रचना पूरन भई।
हीनाधिक सोध सुधारियो जे सज्जन समरस मई। 99।

अथ व्यवस्था कथन—मनहरण छन्द—

वाराणसी आरा ताके बीचि बसै वारा सुरसरी
के किनारा तहाँ जनम हमारा है।
ठारै अडताल मांहि सेत चौबे सोम पुष्प।
कन्या लगन भानु अ श सत्ताईस धारा है।
साँठि मांहि कासी आए तहा सतसग पाए।
जैनधर्म मर्म लहि मर्म भाव रास है।
शैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहाँ।
अध्यात्म वाणी की अखड बहै धारा है।

छप्पय—

प्रथमही आढतराम दया मौर्य चित लाये।
सेठी श्री सुखलाल जीय सौ आनि मिलाये।
तिनये श्री जिनधर्म मर्म हमने पहिचानै।
पीछे बकसू लाल मिले मोहि रित्र सयाँने।
अवलोके नाटक त्रयी औरहु ग्रथ अनेक जब।
तब कविताई परि रूचि बढ़ी रचौ छद भवि वृन्द अब।।101।।
सवत् विक्रम भूप ठार सो श्रे सठि मांहि, यह सब बालक बन्यो
मिली सत सगत छांती।
तब श्री प्रवचनसार ग्रथ कौ छद बनायो
यही आस उर रही जासु तै निज निधि पावै
तब छद रची पूरण करी चिन्तन रूची तब पुनि रची।
सो ऊ नरू चरितव अन रचि अनेकांत रस सौ यची।102।
इति श्री अध्यात्म सम्पूर्ण।

दोहा—यामै हीनधिक निरखि मूल ग्रथ को देखि।
शुद्धि कीजिए सुजन जन, व्याल बुद्धि मम पेषि। 103।
यह मुनि शुभ चारित्र को पूर्ण भयो अधिकार।
सो जयवत रहौ सदा, ससि सूरज उनिहार।

अथ कवि वसावली लिख्यते। छद कवित्त मात्रा 30।।

मार्ग शीर्ष गत दोष और पन्द्रह अनुमानौ
नारायण विच चन्द्र जनि औ सतरह जानौ।
इसी बीच हरिवशलाल बाबा गृह जीये।
नाम सहारूसाह साह जूके कहलाये। 106।

बाबा हीरानन्द साह सुन्दर सुत तिनके
पंच पुत्र धन धर्मदान गुण जुत थे इनके ।
प्रथमे राजाराम बना फिर अभैराज सुनु
उदैराज उत्तम सुभाव आनन्द मूर्ति गुनु । 186 ।
भीजराज चौथ कहौ जोगराज पुनि जानियो ।
इनि पितु लग काशी निवास अचल मानिये ।
अब बाबा खुसिहालचंद सुतु का सुनु वरनल
सीताराम सुग्यानवान वंदौ तिन चरनन । 107 ।
दश हमारे लाल जीवो कुल औगुण खंडित ।
तिन सुत धर्मचंद मो पितु सब सुभ जण पंडित ।
तिनको दाश कहाय नाम मो वृन्दावन है ।
एक भ्रात औ दोय पुत्र मोको यह जन है ।108 ।
महावीर है भ्रात नाम सो छोटा जानौ ।
ज्येष्ठ पुत्र को नाम अजित इमि कटि परिमानौ ।
मो लघु सुत है गिरवर चंद सुन्दर सुते जेष्ठ के ।
इमि परिपाटी जानिये कहयौ नाम लघु श्रेष्ठ को । 109 ।
मगशिर सित तिथि तैरसिका सीमै तब जानौ ।
विक्रमाब्द गत सतरह सै नव विदित सुजानौ । 110 ।

आगे यह श्री प्रवनसार जी की भाषा छंद बंध रची गई है जिसमे जौन-
ीन साधर्मी भाई का उपकार है सो लिखि कर समत् मिति सुधा लिखिकैं
माप्त करैं है ।'

ाहुडी छंद

सम्मत चौरान् मै सुआय, औरे ते परमेष्टी सहाय ।
अध्यात्म रंग पडो प्रवीण, कविता मै मन निश धौ शलीन ।
सज्जन तॉ गुण गुरवै गम्भीर, कुल अग्रवाल सुविशाल धीर ।
ते मम उपकारी प्रथम पर्म, साचे सरधानी विगत मर्म । 112 ।
भैरव प्रसाद कुल अग्रवाल, जैनी जाती बुध है विशाल ।
सोड़ा मौर्य उपकार कीन, लखि भूलि चूकि सो शोध दीन ।

छप्पय—

सीताराम पुनीत तात जम मातु हुलासी ।
ग्यात लमेचू जैनधर्म कुल विदित प्रकाशो ।

तसु कुल कमल दिनव भ्रात मम उदैराज वर ।
अध्यात्म रस छन्दे भक्त जिनवर के दिप्पर ।
तैं उपकारी हमको मिले अब रचना मे भावसौं ।
तब पूरण भयो गरथ यह यह वृन्दावन के चावसौं ।114।

दोहा—चारि अधिक उनईशसौ समत् विक्रम भूप ।
जेठ महीने मे कियो, पुनि आरभ अनूप ।115।
पांच अधिक उतइशसौ, घोसतीज वैशाख ।
यह रचना पूरण भई, पूजो मन अभिलाश ।116।

इति श्रीमत स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य जी कृत परमागत श्री प्रवचनसार जी की मूलगाथा ताको मस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य जी तैं रची। ताकी देश भाषा वचनिका पाडे हेमराज जी ने रची है ताही के अनुसार सौं वृन्दावन अग्रवाल गोयल गोती नैं भाषा रीच। तहा यह मुनि नैं शुभ चारित्राधिकार समाप्त। सर्वगाथा 275, भाषा के छन्द सर्व 1094 एक हजार चौरानमे भये सो जैवन्त हो;।

इति श्री प्रवचनसार छद वध भाषा वृन्दावन जी कृत समाप्त।
श्री वैशाख वदि 2 रविवार सवत् 1927 की सालि 11

प्रस्तुत पाडुलिपि लिखवाने वाले श्रावक का परिचय—
गोपाल के निकट ही, लखकर सहर विशाल ।
सीमत जियाजी राव जह, करत ताज भुवपाल ।
तहा कचौड़ीमल्ल इक सेठ गोत्र गगवाल ।
तिन सुत हीरालाल जो धारत धर्म रसाल ।
तिन लिखवायो ग्रथ यह, प्रवचनसार महान ।
लेखक मौजीलाल पें, महा पुण्य की स्यानि ।
नित प्रति भवि वाँचौ सुनौ, करि परिणाम उदार ।
प्रापति ह्वै है ज्ञान की, पाप होय सब छारि ।।

(पृष्ठ 46 का शेष)

ठीक इसी भाति बनारसीदास की नारी के पास भी निरञ्जनदेव स्वय प्रकट हुए हैं। उसे इधर-उधर भटकना नही पडा। अब वह अपने खजन जैसे नेत्रो से उसे पुलकित होकर देख रही है। उसके आनन्द का ठिकाना नही है। वह प्रसन्नता-से गीत गा उठी। पाप और भय स्वत विलीन हो गए। उसका साजन असाधारण है, कामदेव-सा सुन्दर और सुधारस सा मधुर। उसका आनन्द अनिर्वचनीय है, शाश्वत है—कभी मिटता नही, चुकता नही। सुहागन को वह अक्षय रूप से प्राप्त हुआ है। □

ईश्वर और आत्मा : जैन दृष्टि

—डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, पटना

ब्राह्मण-परम्परा मे जिस प्रकार विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव तथा शिव की उपासना करने वाले शैव कहलाते है, उसी प्रकार श्रमण परम्परा मे 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर के उपासक जैन कहलाते है। 'जिन' ने जिस धर्म का उपदेश किया, उस धर्म को जैन धर्म कहते है। जिस परम्परा मे ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को प्रधानता प्राप्त है, उसे ब्राह्मण- परम्परा कहा गया है और जिस परम्परा मे श्रम अर्थात् मानवीय पुरुषार्थको प्रमुखता प्राप्त है, वह श्रमण-परम्परा कहलाती है। श्रमण-परम्परा मे 'जिन' ईश्वरीय अवतार नही होते, वे तो स्वय अपने पौरुष से काम, क्रोध आदि विकारो को जीतकर 'जिन' सज्ञा आयत्त क‍ते है। इसलिए, 'जिन' का अर्थ ही होता है—जीतने वाला। जिसने आत्मा के विकारो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते है, वे हम प्राणियो के ही सदस्य होते है। इस प्रकार, प्रत्येक जीवात्मा अपनी साधनो से परमात्मा बन सकता है।

जीवात्मा और परमात्मा मे इतना ही अन्तर होता है कि जीवात्मा अशुद्ध होता है। वह काम, क्रोध आदि विकारो और उनसे उत्पन्न कर्मों से घिरा होता है, परिणामत उसके स्वाभाविक गुण—अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अन्नत वीर्य प्रकट नही हो पाते। जब वह उन कर्मों का नाश कर देता है, तब वही (जीवात्मा) परमात्मा बन जाता है और वीतराग हो जाता है। उसे सबका ज्ञान रहता है और उसके अन्तर्मन से राग और द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है। उस अवस्था मे वह (जिन) जो उपदेश देता है, वह (उपदेश) प्रामाणिक होता है। अप्रामाणिकता के दो ही कारण है—अज्ञान और राग-द्वेष। मनुष्य या तो अज्ञान से, ज्ञान न होने से नासमझी के कारण गलत बात बोलता है या ज्ञानवान होकर भी किसी से राग और किसी से द्वेष होने कारण विपरीत आचरण करता है।

जैन धर्म, मनुष्य से इतर किसी सर्वज्ञ को ईश्वर न मानकर जीवात्मा का ही

सर्वज्ञ हो सकना स्वीकार करता है। अत जैन धर्म किसी अलौकिक ईश्वर या स्वयसिद्ध अपौरुषेय वेदग्रन्ध द्वारा नही कहा गया है, वल्कि उस मानव द्वारा कहा गया है, जो कभी सामान्य प्राणी के समान ही अल्पज्ञ और राग द्वेष से अभिभूत था, किन्तु जिसने अपने पौरुष से प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और राग-द्वेष के कारणो से अपनी आत्मा को मुक्त कर लिया और इस तरह वह सर्वज्ञ तथा वीतराग वन गया अत , जिनत्व को प्राप्त मानव के अनुभवो का सार ही जैन धर्म है।

'धर्म' शव्द के दो अर्थ हैं एक, वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता है। जैसे ' अग्नि का जलाना धर्म है, पानी का शीतलता धर्म है, वायु का वहना धर्म है और आत्मा का चैतन्य धर्म है। दूसरा, आचार या चारित्र को धर्म कहते हैं। इस दूसरे अर्थ को इस प्रकार भी कहा गया है जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। चूकि, आचार और चारित्र से ही अभ्युदय और नि श्रेयस की प्राप्ति होती हे, इसलिए चारित्र ही धर्म है। चारित्र या आचार-रूप धर्म केवल चेतन आत्मा मे ही पाया जाता है, इसलिए धर्म का सम्वन्ध आत्मा से जुडा हुआ हे।

प्रत्येक तत्त्वदर्शी धर्मप्रवर्त्तक ने केवल आचार-रूप धर्म का ही उपदेश नही किया अपितु वस्तु के स्वभाव रूप धर्म का भी उपदेश किया है, जिसे दर्शन कहा जाता है। इसीलिए, प्रत्येक धर्म का अपना दर्शन या दृष्टि होती है। दर्शन मे आत्मा क्या है, परलोक क्या है, विश्व क्या है, ईश्वर क्या है, आदि समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है और धर्म द्वारा आत्मा को परमात्मा वनने का मार्ग बताया जाता है। यद्यपि दर्शन और धर्म, अर्थात् वस्तु-स्वभाव-रूप धर्म और आचार-रूप धर्म दोनो भिन्न विषय ह, तथापि दोनो मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ ' जव आचार-रूप धर्म आत्मा को परमात्मा वनने का मार्ग बताता है, तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा का स्वभाव क्या है दोनो मे अन्तर क्या है और क्यो है ? विचार के अनुसार ही मनुष्य का आचार होता है। जो यह मानता है कि न तो आत्मा है, न ही परलोक है, उसका आचार सदा भोग प्रधान ही रहता है, और इसके विपरीत मान्यता रखने वालो का जीवन और आचार सदा त्याग प्रधान या तप प्रधान होता है इसी से दर्शन का प्रभाव धर्म पर वडा गहरा होता है और एक को समझे विना दूसरे को समझना सम्भव नही इसलिए जैन धर्म से 'जिन' देव द्वारा कहा हुआ विचार और आचार दोनो को ही ग्रहण करना चाहिए।

जैनदृष्टि मे जीव और आत्मा एक दूसरे के पर्यायवाची है। जीव या आत्मा चैतन्य ज्ञान स्वरूप है। उसकी दो अवस्थाए होती है—अन्तर्मुख और वहिर्मुख जव जीव आन्तरिक आत्मा स्वरूप को ग्रहण करता है, तव उसे दर्शन कहते हैं

और जब वह बाह्य पदार्थ को ग्रहण करता है, तब उसे ज्ञान कहते है। ज्ञान और दर्शन मे मुख्य भेद यह है कि ज्ञान के द्वारा जिस प्रकार घट, पट आदि रूप से वस्तु की व्यवस्था होती है, उस प्रकार दर्शन के द्वारा नही होती। जीव के चैतन्यात्मक होने का आशय है कि जीव ज्ञान-दर्शनात्मक है। ज्ञान और दर्शन जीव या आत्मा के गुण या स्वभाव हैं। कोई भी जीव इन दोनो के बिना नही रह सकता। इसीलिए, वनस्पति जीव से सिद्ध पुरुषो तक मे न्यूनाधिक रूप से ज्ञान की सत्ता अवश्य रहती है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के साथ ज्ञान का नित्य साहचर्य-सम्बन्ध रहता है।

प्रत्येक आत्मा अपने उत्थान और पतन का स्वय उत्तरदायी है। वह अपने कार्यों से ही बद्ध या मुक्त होती है। भिखारी से भगवान बनने की शक्ति स्वय उसमे ही निहित है, इसलिए वह स्वय प्रभु या समर्थ है। आत्मा या जीव स्वय अपने कर्मो का कर्त्ता है और स्वय ही अपने कर्मफलो का भोक्ता भी है। जैन दृष्टि मे आत्मा को शरीर प्रमाण माना गया है। जैसे दीपक छोटे या बडे जिस स्थान मे रखा जाता है, तदनुसार उसका प्रकाश सिकुड या फैल जाता है, वैसे ही आत्मा भी यथाप्राप्त छोटे या बडे शरीर के आकार का हो जाता है। सकोच और विस्तार आत्मा का सहज गुण है। आत्मा को शरीर प्रमाण मानकर जैन दार्शनिको ने आत्मा के एकत्व या व्यापकत्व का खण्डन किया है।

जैन दृष्टि से जीव या आत्मा के दो भेद हैं—ससारी आत्मा और मुक्तात्मा, कर्म बन्धन से आबद्ध जो जीव एकगति से दूसरी गति मे जन्म लेते और मरते है, वे ससारी हैं और जो कर्मबन्धन से छूट चुके हैं, वे मुक्त है। मुक्त आत्मा मे कोई भेद नही होता। सभी मुक्तात्माए समान गुण-धर्म वाली होती है, किन्तु ससारी आत्मा के देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी आदि भेद होते है। जैनधर्म के अनुसार, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडे-मकोडे आदि के साथ ही पृथ्वी (मिट्टी-पर्वत) जल, अग्नि, वायु और वनस्पति मे भी आत्मा का निवास है।

जैन धर्म मे मानव से ऊपर किसी सर्वशक्तिमान सत्ता या ईश्वर का अस्तित्व नही स्वीकार किया गया है। जैन अवधारणा यह है कि कोई सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ सदा से ही कर्मो से अछूता हो नही सकता क्योंकि बिना उपाय या पुरुषार्थ के उसका सिद्ध या मुक्त होना सम्भव नहीं है। ब्राह्मण-परम्परा मे ईश्वर को अनादि मानने के कारण उसे सदा कर्मो से अछूता माना गया और चूकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता है, इसलिए अनादि माना गया है। किन्तु जैनधर्म किसी को इस विश्व का रचयिता नही मानता, और इसीलिए वह किसी एक अनादिसिद्ध परमात्मा की सत्ता से इनकार करता है।

जैनदृष्टि से ईश्वर एक नही, अनेक हैं, असख्य है। क्योकि, जैनसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिए हुए मुक्त हो सकता है आज तक ऐसी अनन्त आत्माए या जीव मुक्त हो चुके हैं और आगे भी मुक्त होगे। ये मुक्त जीव ही जैन धर्म के ईश्वर है। इन्ही मुक्तात्माओ मे कुछ जिन्होने मुक्त होने के पहले या जीवन्मुक्त स्थिति मे ससार को मुक्ति का मार्ग वताया था, जैनदृष्टि मे ईश्वर तीर्थकर है। जीवनन्मुक्त को जैन परिभाषा मे 'अदेह केवली' और मुक्त को 'सदेह केवली' कहा जाता है।

तीर्थंकर अनन्तदर्शन, अनन्ताज्ञान, अन्नतसुख और अनन्तवीर्य के धारक होते हैं। ये साक्षात् भगवान या ईश्वर होते है। जैन वाङ्मय मे इनके ऐश्वर्य का प्रचुर वर्णन मिलता है। ये जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान से सम्पन्न होते है। जन्म से ही इनका शरीर अपूर्व कान्तिमान होता है। इनके नि श्वास मे अपूर्व सुगन्धित होती है। इनके शरीर का रक्त और माम, दूध की भाति उज्जवल होता है। केवलज्ञान प्राप्त करने, अर्थात्, 'अर्हत्-पद' प्राप्त कर लेने के बाद उनका उपदेश सुनने के लिए पशु-पक्षी-तक उनकी सभा मे उपस्थित होते हैं। इस सभा को 'समवसरण' कहते है, जिसका अर्थ होता है—'समानरूप से सबकी शरणागति' अर्थात् जिसकी शरण मे सभी प्राणी आते है। तीर्थंकर की वाणी की गूज एक योजन तक की दूरी को घेरती है। 'समवसरण' मे बारह प्रकोष्ठ होते है, जिनमे एक प्रकोष्ठ पशुओ के लिए भी होता है। तीर्थंकर की वाणी कोस भी प्राणी अपनी-अपनी भाषाओ मे सुनते-समझते है। तीर्थंकर का विहार जहा-जहा होता है, वहा-वहा रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि कभी नही होते। देश मे सर्वत्र शान्ति छा जाती है। केवल्य लाभ करने के पश्चात् तीर्थंकर अपना शेष जीवन प्राणियो के उद्धार-कार्य मे ही बिताते हैं। इसी से जैनो का परम पवित्र पच नमस्कार-मन्त्र मे 'अरिहन्त' को प्रथम स्थान दिया गया है 'णमो अरिहताण'=अर्हतो को नमस्कार।'

जैनसिद्धान्त मे मुक्तो को 'सिद्ध' भी कहते है। यद्यपि अर्हतो से सिद्धो का पद ऊचा है, क्योकि अर्हत् कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त नही होते और सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते हैं, तथापि सिद्धो को अर्हतो के बाद नमस्कार किया गया है णमो सिद्धाण=सिद्धो को नमस्कार।' इस प्रकार, जैन दृष्टि से अर्हत्-पद और सिद्ध-पद प्राप्त जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव या आत्मा मे ईश्वर होने की शक्ति निहित है। परन्तु, अनादि काल से कर्म बन्धन के कारण जीव की वह शक्ति आवृत रहती है। जो जीव इस कर्म बन्धन को तोड डालता है, उसके ही ईश्वर बनने की शक्तिया प्रकट हो जाती है और वह ईश्वर बन जाता है। इस प्रकार ईश्वर किसी एक पुरुष विशेष का नाम नही है, अपितु जैसा कहा

(शेष पृष्ठ 95 पर)

योग दर्शन और जैन दर्शन

● डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर

योगदर्शन की परम्परा प्राचीनता की दृष्टि से प्राग्वैदिक मानी जाने लगी है। निवृत्तिप्रधान होने से इसका जैनधर्म के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। पतजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियो के रोकने को योग कहते है।[1] जैनधर्म मे दो प्रकार का सयम माना गया है—(१) इन्द्रिय सयम और (२) प्राणि सयम। योग की उपर्युक्त परिभाषा का अन्तर्भाव इन्द्रियसयम के अन्तर्गत हो जाता है। इन्द्रिया जब अपने-अपने विषयो मे नही दौडती, तब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। उस समय वह कर्त्ता की अपेक्षा दृष्टा अधिक होता है। योग के समय ऐसे दृष्टा का स्वरूप मे ठहराव होता है।[2] व्यास ने उस ठहराव की उपमा कैवल्य से दी है। तात्पर्य यह कि योग के समय सासारिक विषयो मे विचरते हुए के समान वृतिया नही होती है।[3] योगदर्शन मे चित्त के परिणामविशेष को वृत्तिया कहा है। वृतिया दो प्रकार की होती है—(1) क्लिष्टा तथा (२) अक्लिष्टा। चित्त की वे वृत्तिया जो सासारिक विषयो मे आत्मा को फसाए रहती हैं। वे क्लिष्टा और ज्ञानविषय वालो जो तीन गुणो के अधिकार को नष्ट करके मोक्ष कराती है। वे अक्लिष्टा कहलाती है। ये सब वृत्तिया निरोध करने योग्य है। जहा तक क्लिष्ट वृत्तियो के निरोध का सम्बन्ध है, उसके विषय मे किसी को विरोध नही है। परन्तु ज्ञान, प्रेम आदि अक्लिष्ट वृत्तियो के निरोध के विषय मे मतभेद है। साख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्ती तथा कई बौद्ध कहते है कि विदेह-मुक्ति के समय शरीर की भाति चित्त या मन का भी विसर्जन हो जाता है। यदि चित्त का ही विलय हो जाय तो अक्लिष्ट वृत्ति पैदा ही किसमे हो? इसमे मुक्त दशा मे विशुद्ध ज्ञान या विशुद्ध आनन्द जैसी वृत्तियो के लिए अवकाश नही है। जैनाचार्य हरिभद्र कहते है कि मुक्त दशा मे अक्लिष्ट वृत्तियो का केवल इतना ही अर्थ हो सकता हे कि मानसिक कल्पनाओ और व्यापारो का देहव्यापार की भाति विलय हो जाता है, चेतन की सहज एव निरावरण ज्ञान, प्रेम, आनन्द आदि

वृत्तियो का विलय नही होता।[4] चित्त दो धाराओं वाली नदी के समान है। चित्त की एक धार रूपावृत्ति कल्याण के लिए बहती है। पूर्वजन्म मे कैवल्यार्थ उपाय करने वाली कैवल्य प्राग्भारा वृत्ति, जो कि विवेक की ओर चलती है, वह मानो कल्याण की ओर बहने वाली धारा है। जिस पुरुष ने पूर्वजन्म मे सासारिक भोग किए हैं, उसकी वृत्ति ससार प्राग्भारा है। वह विवेक ज्ञान की विरोधी सासारिक विपयो मे चलने वाली पाप की धारा है। वैराग्य से विपयो का स्रोत नष्ट किया जाता है। विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का विरोध अभ्यास और वैराग्य दोनो के अधीन है।[5]

स्थिति का यत्न अभ्यास कहलाता है।[6] चक्र के समान निरन्तर घूमने वाले (चचल) चित्त का शान्त प्रवाह मे बहना स्थिति कहलाती है। ऐसी स्थिति के लिए यत्न करना, बल लगाना और उत्साह होना, उसके सम्पादन की इच्छा से उसके साधनो का अनुष्ठान करना अभ्यास कहलाता है।[7] वह अभ्यास दीर्घकाल अर्थात् मरणपर्यन्त सभी अवस्थाओ, सर्वभूमियो मे आदरयुक्त किया हुआ दृढ-भूमि होता है।[8] देखे और सुने हुए विषयो की तृष्णा से रहित होना वशीकार नाम वाला वैराग्य कहलाता है।[9] दो प्रकार के विषय हैं—देखे और सुने। देखे हुए शब्दादि जो ससार मे ही प्राप्त हैं, दृष्ट कहलाते हैं। देवलोकादि आनुश्रविक है। गुरुमुखादि से सुनकर वेद का प्राप्त होना आनुश्रविक कहलाता है। इन दोनो विषयो मे अनित्यता और आनन्दरहितता देखने से दूर हो गई है, ग्रहण करने की इच्छा जिसकी, ऐसा पुरुष— मेरे यह वश मे है, मैं इनके वश मे नही। इस प्रकार का विचार करता है, यही वैराग्य है।[10] अभ्यास के अन्तर्गत जैनधर्म मे कहे हुए गुप्ति, समिति, धर्म, परीपहजय और चारित्र आते है। वैराग्य के अन्तर्गत अनुप्रेक्षाओ का अन्तर्भाव होता है।

योगदर्शन मे अविद्यादि क्लेश और पुण्य-पाप रूप कर्म तथा उन कर्मों के फल औरवासनाओ से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहा है।[11] ईश्वर का यह लक्षण जैन परम्परागत मुक्त जीव के लक्षण से पूरी तरह मिल जाता है। ऐसे ईश्वर मे प्राणिधान करने से समाधि और उसका फल कैवल्य प्राप्त होता हे।[12] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है—

> जो जाणादि अरहतदव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहिं।
> सो जाणादि अप्पाण मोहो खलुजदि तस्य लय॥

जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है। वह अपने को जानता हे और उसका मोह क्षय को प्राप्त हो जाता हैं।

योगदर्शन मे जिसमें सबसे अधिक ज्ञान हो, उसे सर्वज्ञ माना गया है।[13] जैनदर्शन मे सब द्रव्यो की सब पर्यायो को एक साथ जानने वाले को सर्वज्ञ कहा गया है।[14] इस प्रकार सर्वज्ञ के विषय मे की गई जैन परिभाषा योगदर्शन मे दी गई परिभाषा की अपेक्षा विशिष्ट है।

योगदर्शन के अनुसार सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा अपुण्यात्माओ के साथ योगदर्शन मे सुख को भोगने के पश्चात् जो चित्त मे उसके भोगने की इच्छा रहती है, उसे रण कहते हैं।[15] दु ख अनुभव के पश्चात् जो द्वेष रूपी वासना चित्त मे शयन करती है। वह द्वेष कहलाता है।[16] जिस मरणभय मे स्वभाव से ही विद्वान उसी प्रकार आरूढ होता है, जैसे मूर्ख, वह अभिनिवेश क्लेश है।[17] जैन धर्म के अनुसार सम्यग्दृष्टि के सात प्रकार के भय नही होते है, जिनमे एक मरणभय भी है। राग, द्वेष और भय की जैनधर्म मे नोकपाय के अन्तर्गत रति, अरति और भय के नाम से गणना की गई है। वर्तमान जन्म और भावी जन्म मे अनुभव करने योग्य कर्म और वासनाओ का मूल क्लेश हे।[18] क्लेश रूप मूल के रहते हुए उनका फल जाति (जन्म), आयु और भोग अवश्य होते हैं।[19] वह जाति, आयु तथा भोग पुण्य और पाप रूप कारण द्वारा उत्पन्न होने से सुख तथा दु'ख रूप फल वाले हैं।[20]

योगदर्शन मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच यम कहे गए है। जैनधर्म मे इनकी व्रतो के अन्तर्गत गणना की जाती है[21] और इनके दो भेद किए हैं— १—अणुव्रत और २—महाव्रत। अणुव्रत मे उक्त व्रतो का एक देश (सीमित) धारण होता हैं, महाव्रत मे पूर्णरूप से धारण होता है।[22] महाव्रत की इस परिभाषा से पतजलि द्वारा दी गई परिभाषा पूरी तरह मिलती है, तदनुसार अहिंसा आदि का जाति, देश, काल, समय मे आबद्ध न होकर पालन करना महाव्रत है।[23] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पाच नियम हैं।[24] उपर्युक्त यम और नियम के जो फल पतजलि ने बतलाए हैं, उनका जैन दृष्टि की अपेक्षा कोई विरोध नही है।

योगदर्शन मे जिसमे स्थिरता और सुख हो, उसे ही आसन स्वीकृत किया गया है।[25] जैनधर्म मे भी सामायिक के लिए कोई विशेष आसन स्वीकृत नही की गई है, जिससे उपयोग की स्थिरता हो, वही आसन उपादेय मानी गई है। जैन दर्शन मे सबसे अधिक महत्त्व ध्यान को दिया गया है। प्राणायाम के सम्बन्ध मे जैनाचार्यो का मत है कि उसे बलपूर्वक नही करना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से

शारीरिक पीडाओ के कारण मन को कष्ट होकर ध्यान मे बाधा पडने की सम्भावना रहती है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है—

तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्य प्राणायामैकदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्तविप्लव ॥

मित्रता, दया, हर्ष तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है।[26] जैन धर्म मे भी इन्ही भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करने की कामना की गई है।[27] तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह योग की क्रिया है।[28] ये तीनो जैनदर्शन मे कहे गये चारित्र, ज्ञान और श्रद्धा के प्रतीक है। व्यास ने कहा है—तप रहित पुरुष को योग सिद्ध नही होता है। अनादिकाल से कर्म, क्लेश और वासनाए बुद्धि मे चित्रित हुई विपथ जाल को उठाने वाली अशुद्धि है। ये तप के बिना नाश को प्राप्त नही होती हैं। इस कारण तप का ग्रहण है। तप चित्त को प्रसन्न करने वाला है। ओकार आदि पवित्र नामों का जप तथा मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रो का पढना स्वाध्याय हैं। समस्त क्रियाओ का परम गुरु परमात्मा को अर्पण करना और उनके फल की इच्छा का त्याग करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।[29] जैन धर्म मे भी भगवान को यज्ञपुरुष मानकर उन्हे पुण्यकर्मो के अर्पण करने का सकल्प किया गया है।[30] उपर्युक्त योग समाधि की भावना करने वाला और क्लेशो को शिथिल करने वाला है।[31] योगदर्शन मे अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पाच क्लेश कहे गए हैं।[32] इन सबकी जो परिभाषाए पतजलि ने दी है, उनमे से अस्मिता को छोडकर सभी परिभाषाए जैन परिभाषाओ से मिलती जुलती हैं। अनित्य, अपवित्र, स्वरूप अनात्म को क्रमश नित्य, पवित्र, सुखरूप और आत्म मान लेना अविद्या है। जैनदर्शन मे इसे ही मिथ्यात्व कहा है। ससार भ्रमण का मूलकारण यही है कि जीव परद्रव्यो को अपना मानकर उसमे लीन हो रहा है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

येनात्माबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम ॥ समाधितन्त्र—१

जिसने आत्मा को आत्मरूप से जाना, पर को पररूप से जाना, अक्षय और अनन्त ज्ञान के लिए उस परमात्मा को मैं नमस्कार करता हू।

जैन धर्म मे ससार को अशरण, अशुभ, अनित्य, दु ख रूप और अनात्मक मानकर उसके विपरीत मोक्ष का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है।[33]

योग के फलस्वरूप जो विभूतिया प्राप्त होती है, वे योग और जैनदर्शन मे समान रूप से त्याज्य बतलाई गई है।

संदर्भ संकेत

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।। पातञ्जल योगदर्शन १/२

२ तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम् ।। वही १/३

३ स्वरूप प्रतिष्ठा तदानी चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये । व्युत्थानचित्तेतु सति तथाऽपि भवन्ति न तथा ।। वही—व्यासभाष्य ।

४ पण्डित सुखलालसंघवी. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ १०१ ।

५ पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य १/१२

६ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास. १/१३ (पातजल योगदर्शन)

७ वही व्यासभाष्य १/१३

८ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कार सेवितो दृढभूमि ।। पातजल योगदर्शन १/१४

९ द्रष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार सज्ञा वैराग्यम्—पातञ्जल योगदर्शन १/१५

१०. वही—भोजदेववृत्ति ।

११, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेप ईश्वर ।। पात योगदर्शन १/२४

१२. ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।। पात योग १/२३

१३ तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम ।। वही १/२५

१४ सर्वद्रव्य पर्यायेपु केवलस्य—तत्वार्थ सूत्र ।

१५. सुखानुशयी राग ।। पात योग. २/७

१६ दु खानुशयी द्वेप ।। वही २/८

१७. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश ।। वही २/९

१८. क्लेशमूल कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय ।। पात योग २/१२

१९ वही २/१३

२० वही २/१४

२१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रेहभ्यो विरतिर्व्रतिम् ।। तत्त्वार्थसूत्र

२२ देश सर्वतोऽणुमहती ।। तत्त्वार्थसूत्र

२३ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ।। पा. योग २/३१

२४ शौचसन्तोपतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा ।। पात योग २/३२

२५ स्थिरसुखमासनम् ।। वही २/४६

२६ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्त प्रसादनम् ।। पा योग १/१३३

(शेष पृष्ठ 95 पर)

अध्यात्मसूत्र : एक अध्ययन

—डा० कस्तूर चन्द्र 'सुमन', श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री सहजानन्द वर्णी न्यायतीर्थ अपने समय के एक आदर्श विचारक सन्त थे। उनका आध्यात्मिक ज्ञान और चिन्तन अपूर्व था। अध्यात्म-प्रेमियो के लिए उनकी 'अध्यात्म सूत्र' मौलिक कृति जैन साहित्य को एक अनूठी देन है।

प्रभाव—जैन शास्त्रो मे सूत्र साहित्य विपुल नही है। सस्कृत सूत्र साहित्य उमास्वामी-कृत तत्त्वार्थसूत्र ही एक ऐसी रचना हैं, जो बहुचर्चित हुई है। प्रस्तुत अध्यात्मसूत्रो की रचना शैली मे तत्त्वार्थसूत्र का ही अनुकरण किया गया है। दोनो की विषय वस्तु दस अध्याओ मे विभाजित की गई है।

सूत्र-सख्या—अध्यायो की सूत्र-सख्या भिन्न-भिन्न है। तत्त्वार्थ-सूत्र मे कुल सूत्र तीन सौ सत्तावन हैं जबकि अध्यातमसूत्र मे कुल-सूत्र तीन सौ छब्बीस हैं। अध्यायो के क्रम सूत्र मे निम्न प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्र		अध्यात्मसूत्र	
अध्याय	सूत्र सख्या	अध्याय	सूत्र सख्या
१	३३	१	२८
२	५३	२	२६
३	३९	३	२६
४	४२	४	२१
५	४२	५	२२
६	२७	६	२३
७	३९	७	१८
८	२६	८	२६
९	४७	९	२९
१०	९	१०	१७

विषय-वस्तु—इस प्रकार दोनो रचनाओ मे न केवल अध्यायो की सूत्र-सख्या मे ही भिन्नता है, अपितु अध्ययो की विषय-वस्तु भी भिन्न-भिन्न है।

तत्त्वार्थ-सूत्र मे आदि के चार अध्यायो मे अजीव, पाचवें मे जीव, छठे तथा सातवें मे आस्त्रव, आठवें मे बन्ध, नौवे मे सवर और निर्जरा तथा दसवे मे मोक्ष तत्त्व की मीमासा की गयी है।

प्रस्तुत रचना मे इन सातो तत्त्वो की व्याख्या के साथ निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, कर्तृ-कर्मत्व, गुणस्थान, विशुद्धज्ञान और मयम जैसे महत्वपूर्ण विषयो का भी समावेश किया है।

जीव और अजीव तत्त्वो का प्रकारान्तर मे दूसरे तीसरे अध्यायो मे विवेचना की गई है। चौथे मे आस्त्रव, पाचवें मे सवर, छठे मे निर्जरा, सातवे मे मोक्ष तत्त्व का स्वरूप है। इस प्रकार 'अध्यात्म-सूत्र' मे नवीन प्रभाव का सृजन है। पाठक इन सूत्रो मे निहित अर्थ के गम्भीर अमृत सिन्धु मे जैसे ही प्लावन करने लगेगा वैसे ही वह अलौकिक स्वानन्द की झलक पाने लग जाएगा, ऐसा सामर्थ्य इन सूत्रों मे है। 'अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् गूढ निर्णय' इस सूत्र लक्षण के अनुसार प्रत्येक सूत्र अल्पअक्षरवान, असदिग्ध, सारभूत व गूढ बातो का सम्यक् निर्णायक, अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ से भरपूर है।

ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र

जीवो का जीवन सुखी हो इसके लिए जीवन की शुद्धिस्थिति क्या है? वह कैसे साध्य है, उसकी साधना मे कैसी बाधाएँ है, उन बाधाओ को कैसे दूर किया जा सकता है। क्या ज्ञेय है? और क्या हेय है? इन सभी प्रश्नो का इस अध्यात्मसूत्र के द्वारा समाधान किया गया है।

ज्ञान मीमांसा—प्रथम अध्याय मे ज्ञान की मीमासा की गई है। इसमे शुद्ध-स्थिति को साध्य बनाकर, उसकी साधना के लिए आवश्यक तत्त्वो का उल्लेख है। ज्ञान मीमांसा की सारभूत बाते निम्न प्रकार हैं—(१) निरुपधि दृष्टि और उसके हेतु। (२) निश्चय-व्यवहार नय और उनके भेद-प्रभेद। (३) रागादि की परिणति।

ज्ञेय मीमांसा—इसके लिए अध्याय दूसरा, तीसरा, आठवा और नौवा द्रष्टव्य है। इनमे जीव और अजीव दो तत्त्वो का वर्णन है। दूसरे अध्याय मे [illegible] द्रव्यो का नामोल्लेख कर उनके निमित्त और उपादान सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय मे जीव और अजीव का कर्तृ-कर्मत्व, आठवें अध्याय मे जीव के भावो की स्थिति सूचक गुणस्थान तथा नौवे अध्याय मे जीव की आत्मा सम्बन्धी व्याख्या की गई है।

ज्ञेय मीमासा की सारभूत बाते निम्न प्रकार है—[illegible] —(१)

छ द्रव्यो मे जीव-द्रव्य का स्थान । (२) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड् द्रव्यो की गणना, परिणमन, और सम्बन्ध । (३) निमित्त-उपादान । (४) कर्म और कैवल्य । (५) सम्यग्दर्शन के निमित्त कारण । तीसरे अध्याय मे—(६) द्रव्य का कर्त्ता, कर्म और क्रिया । (७) द्रव्य का स्वभाव-परिणमन, उसके भेद, उनका स्वरूप और हेतु । (८) द्रव्य का अकर्तृत्व । (९) कर्तृत्व बुद्धि और भेदविज्ञान का सम्बन्ध । (१०) भेदविज्ञान और मोक्ष का सम्बन्ध । (११) मोक्ष मार्ग । आठवें अध्याय मे (१२) गुणस्थान । नौवे अध्याय में—(१३) आत्मा का स्वरूप, उसके भेद, परिणति ।

चारित्र मीमांसा—आध्यात्मिक जीवन मे कौन प्रवृत्तिया देय हैं और कौन उपादेय है, उनका सेवन करने से क्या फल प्राप्त होता है, देय प्रवृत्तियो से निवृत्ति और उपादेय-प्रवृत्तियो मे प्रवृत्ति कैसे हो, इनका अन्त मे क्या परिणाम निकलता है—ऐसे तथ्यो पर ऊहापोह करना चारित्र मीमासा हैं । इस सन्दर्भ मे वर्णीजी कृत प्रस्तुत अध्यात्मसूत्र के पाच अध्याय—चौथे से सातवें तक तथा दसवा, द्रष्टव्य हैं ।

चारित्र मीमासा की सारभूत बातें निम्न प्रकार हैं—चौथे अध्याय मे—(१) कर्म का स्वरूप, पुण्य-पाप, द्रव्य-भाव रूप उसके भेद । (२) आस्रव का स्वरूप । (३) बन्ध का स्वरूप । (४) आस्रव और बन्ध के भेद । (५) हेय और उपादेय । (६) उपादेय प्राप्ति के हेतु । पाचवें अध्याय मे—(७) सवर का स्वरूप, महत्त्व, उसकी उत्पत्ति के कारण, उसका फल, भेद और उनकी हेयता, तथा प्राप्ति की विधि । छठे अध्याय मे—(८) निर्जरा का स्वरूप, महत्त्व, भेद और उनका स्वरूप तथा हेतु और हेतु के आठ अग । (९) निर्जरा के साधन और फल । सातवे अध्याय मे—(१०) मोक्ष का स्वरुप और मोक्ष का मार्ग । (१२) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का स्वरूप (१२) मोक्ष के हेतु, भेद-प्रभेद और फल । दशवें अध्याय मे—(१३) सयम का स्वरूप, भेद और उनका स्वरूप, उपादेयता और फल का वर्णन है ।

अध्यात्म सूत्र का स्वरूप

लेखक की लेखनी मे ध्येय होता है । बिना लक्ष्य के साहित्य-सृजन नही होता । पूज्य सहजानन्द वर्णी का भी इस रचना के पीछे जीवो को दुख से छुडा कर सुख की ओर ले जाना ध्येय रहा है, अध्यात्म सूत्र का आरभ और अन्त इस तथ्य का प्रमाण है ।

उन्होने कहा कि सुख पाने के लिए सुखी की खोज करो, न कि सुख की । सुखी का अध्ययन करो कि वह सुखी कैसे हुआ ? उसने कौन सा मार्ग अपनाया ? इस प्रकार यदि सुखी को जानने-समझने का प्रयत्न किया जावे तो निश्चित

ही ऐसे खोजी को मिल जावेगा वह मार्ग जिससे सुखी, सुखी हुआ है।

साधारणतः इन्द्रियो की अरुचि का अनुभव दुःख तथा रुचि का अनुभव सुख माना जाता है किन्तु वर्णी जी इन्द्रियाधीन सुख-दु ख को सुख-दु ख नही मानते इसे सुखाभास या दुखाभास कहते थे। उनकी दृष्टि मे निराकुलता सुख और आकुलता दु ख था। वे कहा करते थे कि इन्द्रियो को चाहे सुहावना अनुभव हो चाहे असुहावना। आकुलता दोनो मे है। इसलिए वे दोनो ही विकार हैं। दोनो मे स्वभाव का घात है। जहा स्वभाव का घात हो वहा सुख सभव नही। अतः ऐसे सुखी की खोज करो जिसे सुख पर से नही मिला हो, निज से निज मे ही प्राप्त हुआ हो, जैसा सुख अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियो को मिला।

सुख पाने के लिए सुख को छोड सुखी को पाने का लक्ष्य रखने के पीछे वर्णी जी का अनुभव था कि प्रयत्न श्रद्धा के अनुसार होता है। मनुष्य की—अपने पडोसी को सुखी देखकर उसके सुख का कारण उसका लखपति होना है, ऐसी श्रद्धा हो जाने पर वह जैसे अपनी श्रद्धा के अनुसार लखपति बनने का प्रयत्न करता है, ठीक इसी प्रकार सुखी को देखकर सुखी होने की प्रेरणा मिलेगी और जीव सुखी होगा।

वर्णी जी ने अपनी अनुभूति और परम्परागत आगम के अध्ययन से सुख को निर्मलता का प्रसाद और दु ख को आशाओ का फल कहा। उनका अभिमत था कि सुख स्वस्थ रहने से है। स्व का अर्थ है आत्मा और स्थ का अर्थ है ठहरना, स्थिर होना। इस प्रकार आत्मा मे स्थिर होना ही सुख है।

इसी सुख की विवेचना ही 'अध्यात्म-सूत्र' का वर्ण्य-विषय है। जीव को सुखी बनाने के ध्येय से रचे गए इन सूत्रो मे वर्णी जी ने अपने अनुभव को उडेल दिया है। उन्होने सुखी होने का मार्ग दर्शाया है और जगाया है भेद-विज्ञान। तथा कोशिश की है जीवो को सहज ज्ञानानन्द स्वरूप प्राप्त कराने की।

अध्यात्मसूत्र का हिन्दी-सार

प्रथम अध्याय

वर्णी जी का अभिमत था कि सुख के लिए शुद्ध-स्थिति की साधना आवश्यक है, जिसकी साधना निराकुलता के होने पर ही होती है। निराकुलता जन्मती है निरुपधिदृष्टि से तथा निरुपधिदृष्टि जन्मती है वीतरागता से। वीतरागी ससार मे रहता है, पर उसी प्रकार ससार से अलिप्त रहता है जैसे कमल जल से। यही है निरुपधिदृष्टि।

यह स्वभाव और परभाव का विवेक हुए बिना सभव नही है। विवेक का

अर्थ है—दो द्रव्यो या भावो को अलग अलग जानकर अच्छे को ग्रहण कर लेना और बुरे को छोडना। ज्ञान और दर्शन आत्मा का निज स्वभाव है। पर पदार्थो के निमित्त से इनमे उत्पन्न होने वाला मोह, राग-द्वेप रूप विकार परस्वभाव है। जैसे जल मे कीचड मिल जाने से जल मलिन नही होता क्योकि जल स्वभाव से निर्मल होता है। निर्मलता उसका स्वभाव है। उसमे मलिनता उत्पन्न करने वाला निमित्त है कीचड। जब तक वह रहेगी जल मलिन रहेगा। उसके हटते ही वह आ जायेगा स्व-स्वभाव मे। यहाँ कीचड परभाव है।

स्वभाव-परभाव के विवेक की साधिका परीक्षा है, और परीक्षा का अर्थ है जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यो का सब दृष्टियो से विचार करना। वस्तु स्वरूप का ऐसा परीक्षण प्रमाण ज्ञान से होता है। प्रमाण के अश को विपय करने वाला नय है जिसके दो भेद है—निश्चय नय और व्यवहार नय। इनमे जो स्वाश्रित है वह निश्चय नय और जो पराश्रित है वह व्यवहार नय है। दु ख पराश्रित भावो मे है और सुख है स्वाश्रित भावो मे। निश्चय नय के तीन भेद है—अशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चय नय और परमशुद्ध निश्चय नय। इनमे एक द्रव्य का विषय करने वाले नय का अशुद्ध द्रव्य को विषय करने पर निश्चय अशुद्ध नय कहलाता है। जैसे कोई कुसगति मे पडकर जुआ खेलने लगे। इसमे कुसगति-निमित्त को गौड कर व्यक्ति अपने आप स्वय दुर्व्यसनी हुआ—ऐसा जानना अशुद्ध निश्चय नय है। अपनी ही शुद्ध परिणति से वह शुद्ध है। ऐसा देखना जानना शुद्ध निश्चय नय, और अनादि से चलती आई पर्यायो की परम्परा पर ध्यान न देकर उन पर्यायो मे रहने वाले ध्रौव्य को जानना परमशुद्ध निश्चय नय है। सम्यग्ज्ञानी इसी नय का अभ्यासी होता है। बाहिरी पर्याय दिखाई देते हुए भी वह उसे नही देखता, उसका ध्यान सदैव शाश्वत् द्रव्य की ओर केन्द्रित रहता है। उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टि होने पर पूर्व-पूर्व का निश्चय व्यवहार बनता जाता है। सर्वभेदो के द्वारा ज्ञेय निश्चय ही है। सामान्यत इसका प्रयोजन वस्तु की यथार्थता से परिचय कराना है। स्वानुभव इसका फल है। निर्विकल्प रूप से स्व का अनुभव होना अर्थ-द्रव्य गुण और पर्याय मे रहने वाले आत्म-द्रव्य का अनुभव है और यही है अर्थानुभव।

निश्चय का ज्ञान व्यवहार से होता है। व्यवहार के ग्यारह भेद है—(१) आश्रय सबधी व्यवहार। (२) निमित्त सबधी। (३) उभयात्मक (४) उपचरित असद्‌भूत (५) अनुपचरित असद्‌भूत (६) उपचरित सद्‌भूत (७) अनुपचरित सद्‌भूत (८) अशुद्ध निश्चय नय निरूपक (९) शुद्ध निश्चय नय निरूपक (१०) परम शुद्ध निश्चय नय निरूपक (११) निरपेक्ष शुद्ध निरूपक व्यवहार।

इनमे कार्य की सिद्धि मे आश्रय रूप कारण आश्रय सबधी व्यवहार है। जैसे—घर, धन आदि को राग का कारण कहना। आश्रयभूत पदार्थों पर राग हो भी सकता हे और नही भी परन्तु यदि हुए तो वे आश्रय लेकर ही होगे।

कर्म-रूप द्रव्यो के मिलने पर एक दूसरे द्रव्य का उस रूप मे परिणमित हो जाना निमित्त व्यवहार है। जैसे कर्मो का निमित्त पाकर आत्मा का विभाव रूप परिणमित हो जाना। यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना है कि कर्म अपनी परिणति से आत्मा को नही परिणमाते और न आत्मा अपनी परिणति से कर्म वर्गणाओ को अपने रूप परिणमाता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर ऐसा परिणमन स्वयमेव होता है। जैसे जहाँ कषाय होगी, कर्म-स्कन्धो का परिणमन होगा ही।

उभय सम्बन्धक व्यवहार नय वह है जो कथचित् आश्रय और कथचित् निमित्तरूप व्यवहार का विषय करे। जैसे शरीर नोकर्म। बुद्धिपूर्वक राग आदि परिणामो को आत्मिक परिणाम कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे घी का घडा कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

पर के निमित्त से पदार्थ मे अश रूप कल्पना करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययः-ज्ञान कहना। और जिस पदार्थ मे जो गुण है उसे विशेष की अपेक्षा रहित सामन्य रूप से उसी का कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे ज्ञान गुण आत्मा का है ऐसा कहना।

अशुद्ध, शुद्ध और परमशुद्ध निश्चय नयो के विषयभूत पदार्थो का निरूपण करना तत्तद्विषयक व्यवहार है। तथा निर्विकल्प वस्तु के शुद्ध स्वरूप को अपेक्षा भावो के बिना कहना निरपेक्ष शुद्ध निरूपक व्यवहार है।

द्वितीय अध्याय

निश्चय और व्यवहार की व्याख्या करने के पश्चात् पूज्य वर्णी जी ने उपादान और निमित्त को स्पष्ट किया है। इनका जानना भी आवश्यक है। निश्चय और व्यवहार का ज्ञान इनसे सम्बद्ध है।

जगत मे द्रव्य छ है—जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे जीव अनन्तानन्त हैं। पुदगल जीवो से भी अन्नत गुणे है। धर्म, अधर्म और आकाश तीनो एक-एक है और काल द्रव्य असख्यात एक प्रदेशी हे। ये द्रव्य अपनी-अपनी परिणति से परिणमते रहते हैं। इनके परिणमन मे कोई न कोई निमित्त अवश्य

रहता है। पर के परिणमन मे ये उसी प्रकार निमित्त बनकर रहते हैं, जैसे जल मछली के चलने मे निमित्त रूप होता है। ये पर को अपने अनुसार नही परिणमते और न उन्हे परिणमन करने के लिए प्रेरित करते हैं, जैसे जल चलती हुई मछली को चलने मे सहायता तो करता है किन्तु चलने के लिए मछली को प्रेरित नही करता।

अज्ञानी द्रव्यो के स्वभाव ज्ञान के अभाव मे पर पदार्थो को अपने अनुकूल चलाना चाहता है। अज्ञानी का ऐसा सोचना उसी प्रकार उपयुक्त नही है जैसे बैलगाडी के नीचे चल रहे कुत्ते का यह सोचना कि वह बैलगाडी चला रहा है। ऐसा वह राग-द्वेष आदि के कारण सोचता है। ये राग आदि भाव निमित्त कर्म हैं। अशुद्ध निश्चय से ये भाव आत्मा के हैं किन्तु निमित्त की अपेक्षा ये कर्मो के हैं।

कर्म और रागादि मे अन्वय-व्यतिरेक सवध होता है। कर्मो के उदय से राग आदि होते ही हैं, और अभाव मे नही होते। अत कर्मोदय रागादि के लिए निमित्त है। शुद्ध निश्चय नय से रागादि है ही नही। इनकी दृष्टि द्रव्य पर होती है, पर्याय पर नही। यह शुद्ध स्वभाव को ही देखने का स्वाभावी होता है। यही कारण है कि उसे रागादि प्रतिभासित ही नही होते।

कर्मो का क्षय कैवल्य-उत्पत्ति मे निमित्त है और शुद्ध आत्मा कैवल्य अवस्था का उपादान है। निश्चय नय से कैवल्य आत्मज है किन्तु व्यवहार नय से कैवल्य मे कर्मक्षय निमित्त है, और उपादान शुद्ध आत्मा है। इसी प्रकार सम्यकत्व की उत्पत्ति मे उपादान कारण स्वय आत्मा है। तथा श्रोता की श्रद्धा मे ज्ञानी उपदेशक की देशना और जिन प्रतिमा के दर्शन आदि निमित्त है। निश्चय-व्यवहार, निमित्त और उत्पादन की यही स्थिति सभी द्रव्यो के सम्बन्ध मे होती है।

तृतीय अध्याय

यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि सुख आत्मा की शुद्ध-स्थिति मे है। अत सुख के लिए निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान को जानने के पश्चात् आत्मा के कर्तृत्व-कर्मत्व को जानना भी आवश्यक है।

साधारणत जिससे जिस वस्तु का उत्पादन होता है उसे वस्तु का कर्त्ता कहा जाता है, जैसे छाया का कर्त्ता वृक्ष। परन्तु यथार्थ मे परिणमन करने वाला कर्त्ता है। छाया रूप अवस्था का कर्त्ता वह है जो छायारूप बन गया। अत छाया का कर्त्ता वृक्ष नही, वृक्ष के नीचे की वह पृथ्वी है जिस पर वृक्ष की छाया पड रही है। यदि वृक्ष कर्त्ता होता तो छाया पृथ्वी पर नही, वृक्ष के प्रदेशो मे रहनी

चाहिए थी किन्तु स्थिति ऐसी नही है। घट का कर्त्ता मिट्टी है, कुम्हार नही। कुम्हार, चाक आदि तो निमित्त हैं। यही है निश्चय दृष्टि। स्वकर्तृत्व को जाने बिना सुख नही पर कर्तृत्व की धारणा से विभाव भावो मे पडकर जीव दुखी ही होता है।

इसी प्रकार जो परिणम रहा है वह कर्म तथा परिणमन होना क्रिया है। निश्चय नय से तीनो अभिन्न है। पण्डित दौलतराम ने ठीक ही कहा है—

> चिद्भाव कर्म चिदेश कर्त्ता चेतना किरिया तहा
> तीनो अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा।
> प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

इस प्रकार वस्तु अपनी ही क्रिया के द्वारा अपना ही स्वय का कर्त्ता होता है। पदार्थ के परिणमन मे अन्य सब पदार्थ निमित्तमात्र हैं। निमित्त को पाकर उपादान स्वय अपने प्रभाव वाला हो जाता है। इस प्रकार परिणमन होना परिणममान द्रव्य का स्वभाव है। जैसे निमित्त प्राप्त होते हैं वैसा ही परिणमन होता है। स्वाति नक्षत्र का जल सीप रूप निमित्त मिलने पर मोती और सर्प के मुह मे पडने पर जैसे विष रूप परिणमित हो जाता हे, इसी प्रकार विकारी निमित्त पाकर वस्तु विकार स्वभाव मे और अविकारी स्वभाव सम्बन्धी निमित्त मिलने पर स्वभाव रूप परिणमित हो जाती है।

इस प्रकार द्रव्य मे शक्ति एक ही प्रकार की होती है। निमित्त की अपेक्षा से उसके परिणाम दो तरह के होते हैं—स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन। इनमे स्वभाव परिणमन मे नियतता होती है। उसमे अनन्तकाल तक एकसा ही परिणमन होता है। विभाव परिणाम नियत और अनियत दोनो प्रकार के होने से उनमे दोनो प्रकार का परिणमन होता है। इनमे अमुक के बाद अमुक और अमुक के बाद अमुक ऐसा प्रति समयवर्ती परिणाम नियत परिणाम हैं, और अमुक के बाद अमुक ऐसे क्रमिक स्वभाव को जो पर निमित बिना स्वय न रगे वह अनियत परिणाम हैं।

सर्वज्ञ या विशेष ज्ञानी को जहाँ जो होना है वह ज्ञात होने मे विभाव परिणामो की नियतता ज्ञात होती है। जो यह कहा जाता है कि ईश्वर के बिना पत्ता नही हिलता इसका तात्पर्य भी यही है कि उन्हे वही ज्ञात होता है, जो होना होना है। वस्तु के इस नियमित परिणमन पर निश्चय कर आकुलता नही करनी चाहिए।

यह परिणमन कार्य प्रति समय की परिणति पूर्वक होता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध नहीं होता। सब वस्तुएं, उनमे रहने वाली शक्तियाँ और पदार्थ सब

स्वतन्त्र है। कोई किसी का कर्त्ता नही। किमी एक पदार्थ को किसी दूसरे पदार्थ का कर्त्ता कहना उपचार मात्र है। निश्चय से वस्तु अपने परिणामो का कर्त्ता है। आत्मा को राग आदि का कर्त्ता अशुद्ध निश्चय नय से माना जाता है। शुद्ध निश्चय नय से तो वह निर्मल भावो का कर्त्ता है। कर्तृत्व बुद्धि के होने का कारण है भेद विज्ञान का अभाव। परम शुद्ध निश्चय नय से द्रव्य अकर्त्ता है यथार्थ मे परिणमन ही कर्तृत्व है। विभाव भाव या पर पदार्थो की कर्तृत्व बुद्धि अज्ञान है। दुख का यही कारण है। यही अज्ञान आत्मा की एकत्वअवस्था या पर पदार्थ का भेद विज्ञान नही होने तक रहता है।

भेद विज्ञान होने से विकल्प रहित ज्ञान-स्वभाव की स्थिरता प्राप्त होती है। यह स्थिरता ही मोक्ष का उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्ष के कारण नही हैं, मोक्ष का कारण हैं इन तीनों की एकरूपता। यह एक रूपता नयो के पक्ष से प्राप्त नही होती। वह तो सकल नयपक्षो से अतिक्रान्त है।

चतुर्थ अध्याय

कर्तृत्व को जानने के पश्चात् आइए हम कर्म को जाने। कषायो के कारण जो प्रकृति बनती है वह कर्म है। बद्ध कर्मो का प्रति समय उदय मे आकर जीर्ण होना और नवीन कर्मो का प्रति समय बधते रहना कर्मो का स्वभाव है। लोक बुद्धि के कारण कर्मो के दो भेद हैं—पुण्यकर्म और पापकर्म। इनके भी दो-दो भेद होते है—चेतन पुण्य, अचेतन पुण्य चेतन पाप, अचेतन पाप। चेतना की परिणति भाव रूप होने से चेतन को भाव और कर्म अचेतन होने से उन्हे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार पुण्य और पाप के क्रमश दो-दो भेद होते है—भाव पुण्य, द्रव्यपुण्य, भाव पाप और द्रव्य पाप। इनमे साता रूप विकल्प भाव पुण्य और असाता रूप विकल्प भाव पाप है। इसी प्रकार साता आदि के निमित्तभूत कर्म द्रव्यपुण्य और असाता के निमित्तभूत कर्म द्रव्य पाप कहलाता है। कर्म की शक्ति भावकर्म रूप वर्गणाए द्रव्य कर्म। इन कर्मो मे हेतु स्वभाव, अनुभव और आश्रय यदि भेद न किया जावे तो पुण्य-पाप दोनो समान हैं। आत्म स्वभाव मे विकार उत्पन्न होना कर्मो का आस्रव और निज स्वभाव से च्युत हो जाने का नाम बन्ध है। इनके दो-दो भेद हैं—भावास्रव, द्रव्यास्रव, भावबध और द्रव्यबध। अथवा जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवबन्ध, अजीवबन्ध। इनमे विभाव आना और बधना क्रमश भावास्रव तथा भावबन्ध है, और द्रव्य कर्म मे द्रव्यो का आना और ठहरना द्रव्यास्त्रव तथा द्रव्यबन्ध है। पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध सभी हेय हैं। इनसे रहित आत्म स्वभाव ही उपादेय है। इसकी उपलब्धि शुद्धपयोग से होती है और शुद्धोपयोग अशुद्ध तत्त्व की उपेक्षा से प्रकट होता है

तथा ऐसी उपेक्षा भेद विज्ञान से ही प्रकट होती है। यह भेदविज्ञान आत्मिक स्वभाव, उसकी शुचिता, ध्रुवत्व, अशरणता, अनाकुलता आदि से तथा इनकी विपरीत स्थिति से होने वाले आस्रव-बन्ध के परीक्षण से होता है।

पंचम अध्याय

सुख के लिए पुण्य-पाप, द्रव्य और भाव सभी आस्रव यदि हेय है, तब उपादेय क्या है जिससे सुख हो ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वर्णी जी ने कहा— सर्वप्रथम सवर उपादेय है यह मोक्ष का मूल है सवर का अर्थ है विकार भावो को उत्पन्न नही होने देना। यह भेद विज्ञान से ही सभव है। क्योकि भेद विज्ञान से ही शुद्धात्म-रुचि उत्पन्न होती है और इस उपलब्धि से क्रमश अध्यवसाय, राग द्वेष मोह, कर्म, नोकर्म और ससार का अभाव हो जाता है। ससार का अभाव होने से इन विकारो का सदैव अभाव रहता है। यह सब शुद्धात्मा की उपलब्धि मे सर्वदा प्रवृत्ति बनी रहने पर निर्भर है।

यह सवर दो प्रकार का होता है—भाव सवर, द्रव्य सवर और चेतन-अचेतन सवर। ये दोनो संवर दोनो आस्रवो के निरोधक हैं। सवर करने वाला शुद्ध परिणामी होता है। उसके विभाव निमित्तो का अभाव होता है। सवारक और सवार्य के सम्बन्ध से जीव और अजीव दोनो मुख्य है। अत यह सवर तत्त्व निर्विकल्प होकर ग्रहण करने योग्य है।

षष्ठ अध्याय

सवर से विकारो का आना बन्द किया जा सकता है किन्तु जो विकार पहले आ चुके है उनकी निर्जरा करना भी सुख के लिए आवश्यक है। विकारो की निर्जरा करने वाला तत्त्व निर्जरा है। इसी से मोक्ष होना है। इसके दो भेद होते हैं—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। इनमे निर्विकल्प होकर वीतराग भावो मे लीन होना—भाव निर्जरा और बन्ध के निमित्त कारणो को विफल कर कर्मों की निर्जरा करना—द्रव्य निर्जरा है। ये दोनो परमार्थ एकत्व दृष्टि से होते हैं और वह दृष्टि अन्तर-बहिर् नि शकित, अनाकाक्षा, निर्वि-चिकित्सा, अमूढ दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, धर्म-वात्सल्य तथा धार्मिक प्रभावना से होती है।

निर्जरा के लिए उसका स्वभाव, विभाव रूप विभाजन कर स्वभाव निर्जरा ग्रहण करने योग्य है। यह निरुपाधि उपादान कारण भूत एकीकृत शुद्ध पर्याय से होती है। इसकी स्थिरता के लिए समस्त राग-विकल्प त्याज्य कहे हैं। यह त्याग

आत्म-स्वभाव जाने बिना नही होता। इसके लिए वाह्य सयोगो मे निर्वृत्ति आवश्यक हैं। इस प्रकार स्वभाव का आश्रय लेकर यह अनुभव करे कि मैं शुद्ध-चिद्रूप हू। ऐसी अनुभूति मे ही सुख है।

सप्तम अध्याय

इस प्रकार निर्जरा तत्त्व को जानकर विकारो की निर्जरा करने से आत्मा की पूर्ण शुद्ध स्थिति प्राप्त होती है। यह स्थिति ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही इसको पाने का मार्ग है। इनमे विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूति-सम्यग्दर्शन, अखण्ड स्वरूप की प्रतीति के साथ आत्मज्ञान-सम्यग्ज्ञान और विकार रहित स्वभाव से आत्म-ज्ञान की स्थिति सम्यक्-चारित्र है। इन तीन की एकता मात्र ही जानना है। क्योकि उपाधियो से रहित मोक्ष इसी ज्ञान से होता है।

यह मोक्ष कर्मबन्ध का अभाव हुए बिना नही होता। कर्मबन्ध का अभाव राग से नही, अराग से होता है। स्वभाव-भेद परिज्ञान से होता है। मोक्ष के भी दो भेद है—द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। मोच्य मोचक भेद से भी इसके दो भेद हैं। यथार्थ मे वह अभेद-एकत्व रूप है। इसका ध्येय और फल शान्त-स्वरूप, शुद्धपरिणतिगत धर्म और कल्याण है।

अष्टम अध्याय

जीव विचारो का आगार है। उसके मानस मे विचार सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे विचार होते हैं वैसी ही जीव परिणतिया होती हैं। जीव का उत्थान और पतन उसके विचारो से होता है। उत्तरोत्तर विकसित विचार सुख के कारण हैं। जैसे नीचे की सीढि पार कर और ऊपरी सीढि ग्रहण कर दूसरी-तीसरी मजिल प्राप्त की जाती है इसी प्रकार विचारो के उत्तरोत्तर विकास से सुख प्राप्त होता है।

मोक्ष महल रूप ऐसे सुख को पाने के लिए गुणस्थान रूप चौदह सीढियाँ है—(1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) सम्यक्त्व प्रकृति, (4) अविरत सम्यक्त्व, (5) देश विरत, (6) प्रमत्तविरत, (7) अप्रमत्त विरत, (8) अध-करण, (9) अपूर्वकरण, (10) अनिवृत्तिकरण, (11) उपशान्त मोह, (12) क्षीण मोह, (13) सयोग केवली और (14) अयोग केवली।

ये गुणस्थान श्रद्धा और चारित्र के योग से होते हैं। इनमे जैसे-जैसे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ही उत्तरोतर गुणस्थान प्राप्त होते जाते हैं। श्रद्धा और चारित्र का विपरीत अभिनिवेश प्रथम गुणस्थान है।

इसके दो भेद हैं—अनादि और आदि । इनमे आत्मा के साथ अनादि से बद्ध विकार अनादि मिथ्यात्व और सम्यक्तव से च्युत होने पर आत्मिक विकार बढ़ता सादि मिथ्यात्व है ।

सम्यक्त्व की विराधना होने पर अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणति सासादन गुण-स्थान है और सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्त्व दोनो के मिश्रित परिणाम मिश्र तीसरा गुण स्थान है । व्रतो के न होने पर भी सम्यक्त्व का होना अविरत सम्यक्त्व और देश व्रत सहित सम्यक्त्व का होना देश विरत, सकल सयम मे प्रमाद का सद्भाव-प्रमत्तविरत तथा असद्भाव अप्रमत्तविरत गुण स्थान हे। अप्रमत्त-विरत के दो भेद है—(1) स्वस्थान अप्रमत्त, (2) सातिशय अप्रमत्त । इनमे उपशमक अथवा क्षपक श्रेणि का आरोहण नही करने रूप प्रमाद वृत्ति और अपने स्थान के (पद के) मूलगुणो के परिपालन मे अप्रमाद-वृत्ति स्वस्थान अप्रमत्त और अध करण गुणस्थान रूप श्रेणि चढने के लिए उसके सम्मुख होना सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान है। अध करण और सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान जीवो के परिणाम-सख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते है।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय से होते है। सूक्ष्म लोभ भी यहाँ शेष नही रहता । सम्पूर्ण कषायो का उपशमन-उपशान्तमोह और क्षयक्षीणमोह तथा योगो का सद्भाव सयोग केवली और असद्भाव अयोगकेवली गुणस्थान है । सिद्ध गुणस्थानो से परे है। ये गुण-स्थान क्रम, अक्रम अथवा उभय रूप से आगम के अनुसार प्राप्त करने योग्य हैं। सिद्ध सब प्रकार से पूर्ण शुद्ध है अत उन सिद्धो के लिए नमस्कार है।

नवम् अध्याय

आत्मा की क्या विशेषताए है उनकी ओर ध्यान देते हुए पूज्य सहजानन्द वर्णी ने सम्पूर्ण सारवान् वस्तुओ मे आत्मा को ही सर्वाधिक सारवान् कहा है। उन्होने इसकी सर्व अनन्त शक्तियो मे ज्ञान को मुख्य माना है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इसकी दो पर्याए है। इनमे मिथ्याज्ञान के उपचार से मिथ्यातत्व और सहचारी सम्यक्ज्ञान के होने से सम्यक्त्व पर्याय होती है । ज्ञान पाच है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमे प्रथम चार ज्ञान विकल और अन्तिम केवल ज्ञान, सकल ज्ञान है।

सभी पर्यायो मे एक रूप अखण्ड ज्ञान ही केवल विशुद्ध है। वह अनादि, अनन्त, अहेतुक और परपरणति से परिणति शून्य है। यह अपने परिणाम से परिणमता है। सर्वशक्ति इसमे गर्भित होती है। सामान्य रूप से यह स्वलक्षण

वाला है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावो से रहित है। विकृतियो से मुक्त है। ज्ञानमय होने से आत्मा ही है। उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, अनुभूति सम्यग्ज्ञान और उसकी स्थिरता सम्यक् चारित्र है। इसकी विशुद्धि आत्मिक विशुद्धि मे ही स्फुरित होती है।

दशम् अध्याय

ऊपर कहे गए ज्ञान का आचरण सयम है। विशुद्ध दृष्टि और शुभराग प्रवृत्ति भी उपचार से सयम है। इसके पाच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात चारित्र। इनमे बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से विरक्ति पूर्ण साम्यभाव सामायिक तथा हिंसा आदि से विरत होना-छेदोपस्थापना चारित्र है। यह सयम बुद्धि पूर्वक पलता है। समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह-जय ये सब सयम के ही अन्तर्गत हैं। इन सभी का निर्विकल्प होकर सयम पूर्वक पालन करना चाहिए।

विशेष ऋद्धि के होने पर प्राणि-पीडा के परिहार की प्रवीणता परिहार-विशुद्धि, शेष सूक्ष्म लोभ के त्याग की कुशलता पूर्ण विशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय और निरुपधि स्वभाव की ख्याति-यथाख्यात है। इन सबके लिए सयम सेव्य है। इन्ही से सवर और निर्जरा होती है तथा जो अपने आप मे सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह सर्व परभावो से विमुक्त-मोक्ष इनसे स्वत. ही प्राप्त हो जाता है,

रचना-सार

इस प्रकार पूज्य 'सहजानन्द वर्णी' ने जीव को सुखी बनाने के ध्येय से सर्व प्रथम निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त और कर्तृ-कर्तृत्व का वर्णन कर जीव को सुख का स्वरूप दर्शाया है। उन्होने आस्त्रव और वन्ध को दु ख का कारण बताकर दु ख रोकने के लिए सवर और तत्त्वो की व्याख्या की है। सुख के लिए उन्होने मोक्ष को साध्य माना हे तथा इस साध्य के-उत्तरोत्तर निर्मलता और केवलज्ञान हेतु बताये हैं। उनका अभिमत है ये दोनो हेतु बिना सयम के नही होते। अत सुख के लिए सयम की साधना आवश्यक हे। यदि सुखी होना है तो सयमी बनो।

जीव दया के आगार, दयाधर्म के प्रचारक सत। तुम्हे है हमारा कोटि कोटि वन्दन। अर्पित है 'सुमन' सुखकारी है तुम्हारी यह कृति, वैसे ही जैसे ग्रीष्म मे लगता मलयागिरि चन्दन। ☐

'णाणसायर' का अ क—2 कैसा लगा ?

कृपया अपने सुझाव हमे अवश्य भेजें।

सम्पादक की कलम से

जरा सोचिए, धर्म क्या है !

हर धर्म सद्भाव, सहिष्णुता और मानवता का पाठ पढ़ाता है और सद्वृत्तियो का विकास कर मनुष्य की चेतना का परिष्कार करता है। धर्म की कोई भी व्याख्या, कॉर्ल मार्क्स की 'धर्म को अफीम का नशा' बताने वाली व्याख्या भी राक्षसी प्रवृत्तियो की जडो को धर्म मे स्वीकार नही करती है। आशय यह है कि धर्म जोडता है, तोडता नही। धर्म मनुष्य के सस्कारो को ऊचाई देता है, गिरावट नही। दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है, सकीर्ण नही। फिर भी ऐसा क्या कारण है कि धरती बार-बार लहू से रंगी जाती है और उसकी आड़ मे धर्म जडा मिलता है। सिद्धान्त और व्यवहार के बीच का यह अन्तर धरती और आकाश के अन्तर जैसा बडा क्यो है ? क्यो साम्प्रदायिकता की आग धर्म के चूल्हे से उठती है और बार-बार मानवता उसमे जलती है ? ये सारे प्रश्न आज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिए भी हो गए हे क्योकि मनुष्यता के सभी प्रकार के विकास एकता और सद्भाव के मोहताज हो गए हैं। इसलिए धर्म के मूल मर्म को समझने की आवश्यकता आज पहले से कही अधिक हो गई है।

अनेक आचार्यों और ऋषियो ने धर्म की व्याख्या विभिन्न रूपो मे की है। धर्म चाहे धारण करने से 'धर्म' माना जाए या धरने मात्र से, दोनो ही स्थितियो मे उसमे यह विलक्षण सामर्थ्य मानी गई है कि वह जीव को पतित होने से, कर्म-बधन मे फंसने से और ससार के दु.ख भोगने से सिर्फ बचाता ही नही है बल्कि एक ऐसे उत्तम पद पर उसे पहुचा देता है जहाँ दुख का नामो निशान तक नही होता इसी उत्तम पद प्राप्ति को 'मोक्ष' कहा गया हे।

हर पदार्थ की तरह जीवात्मा का भी अपना 'स्व-भाव' है। जब कोई जीव रागद्वेष आदि के वशीभूत होकर पर-भाव रूप मे परिणमन करने लगता है। तब वह न केवल 'स्व-भाव' से च्युत हो जाता है, वरन् पर-भाव परिणामो के अनुसार अपने मे कर्म-बन्ध जुटाने मे लग जाता है। इसी कर्म-बन्ध से वह जन्म-पुनर्जन्म मे पडकर ससारी बनता है, ऐसा ससारी जीव जब धर्म को धारण करता है तब उसका न सिर्फ पर-भाव रूप परिणमन रुक जाता है बल्कि उसका आध्यात्मिक उत्थान भी होने लगता है। धर्म को धारण करने वाला जीवात्मा, आत्मिक उन्नति को प्राप्त करने के साथ-साथ आत्मिक सुख-आनन्द का भोग करने लगता है। इस आनन्द प्राप्ति को दार्शनिक जगत मे 'नि श्रेयस प्राप्ति' माना गया है।

श्रमण सस्कृति की मान्यता है—धर्म व्यक्ति को संसरणात्मक जगत से ऊपर उठाता है और उसे निर्विकार शुद्ध-चैतन्य भाव मे धर देता है, जिस तरह गीले गन्दे विस्तर पर पडे रो रहे वालक को उठाकर दूसरे स्वच्छ निर्मल बिस्तर पर माता-पिता लिटा देता है वैसे ही कर्म-पङ्क मे धसे पडे दु खी व्यक्तियो को उठाकर अध्यात्म के निर्मल सुखद उच्चपद पर जो आसीन करा देता है—वह धर्म है।

स्पष्ट है—धर्म की निगाह मे कोई भी अपना-पराया नही हो सकता। व्यक्ति की अपनी भावना ही उसमे एक दायरा वना देती है जिसमे सिमटकर वैठ जाने से उसकी सोच-समझ सकीर्ण वन जाती है। यथार्थित सारे ब्रह्माड मे 'धर्म' एक ही है। दुनिया के हर देश मे वही धर्म शाश्वत हो सकेगा जो मानव-मात्र के कल्याण चिन्तन के आधार पर जन्मा होगा और जिसमे आम आदमी को अधोगति से उठाकर शुभ सद्गति मे पहुचाने की सामर्थ्य होगी।

हम किसी धर्म को माने, किसी की भी आराधना या उपासना करें, इन सव बाह्य औपचारिक बातो से कोई फर्क नही पडता। 'धर्म का मर्म' तो त्याग, सेवा, समर्पण और निष्ठा मे ही है और सभी धर्म इन सद्गुणो को महत्त्व देते हैं। पर मनुष्य जब अपने धर्माचार्य के प्रति ममता या रागात्मकता के कारण अथवा अपने मन मे व्याप्त आग्रह और अहकार के कारण अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र और अन्तिम सत्य मानने को बाध्य हो जाता है और अपने धर्म गुरू को ही सत्य का एकमात्र दृष्टा मान लेता है तो परिणाम स्वरूपी साम्प्रदायिक वैमनस्य का सूत्रपात होता है। और शान्तिप्रदाता 'धर्म' ही अशान्ति का कारण बन जाता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि 'हम सच्चे और दूसरे झूठे' की भ्रान्त धारणा न पाले और सच्चे सत्य के अन्वेषी बनकर दूसरो मे भी सत्य का दर्शन करे। हम 'धर्म' के सार तत्व को समझे, उसके प्राण के, उसकी आत्मा के उपासक बनें। केवल बाह्य क्रिया काण्डो मे ही उलझकर धार्मिक होने के भ्रम को अपने से दूर रक्खें। धर्म के मर्म को जीवन के साथ जोडकर सहज ही जीवन मे आनन्द की प्राप्त करें।

(पृष्ठ 74 का शेष)

गया, अनादिकाल से जो अनन्त असख्य जीव अर्हत् और सिद्ध-पद को प्राप्त हो गए हैं और होगे उन्ही का नाम ईश्वर है ।

जैन धर्म के ये ईश्वर ससार से कोई सम्बन्ध नही रखते न सृष्टि के सचालन मे उनका हाथ है न वे किसी का भला-बुरा करते हैं । न वे किसी के स्तुतिवाद से प्रसन्न होते हैं, न ही किसी के निन्दावाद से अप्रसन्न । न उनके पास कोई ऐसी सासारिक वस्तु है, जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, न ही वे किसी को उसके अपराधो का दण्ड देते हैं । जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वय सिद्ध है । जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वय ही सुख-दु ख पाते हैं ।

इस प्रकार, जैनदृष्टि ने चैतन्य जीव को आत्मा मानकर मानव चेतना को सर्वाधिक महत्त्व दिया है । पुन ईश्वर की तथाकथित सर्वशक्तिमत्ता का खण्डन कर और मनुष्य-शक्ति को सर्वोपरि मूल्य देकर पूर्ण मानवतावाद की प्रतिष्ठाकी है □

(पृ० 55 का शेष)

७ वही, १/२० ८ प्रवचनसारोद्धार, द्वार ४२ पद्मानन्दमहाकाव्य, १/३
९ जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, ७१५ १० वही, २२. ११ वही, ६२-६३
१२ उमाकात परमानन्द शाहा, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ४ ।
१३. श्लोक ६२३-६२६ १४. श्लोक १८—२१
१५. प्रतिष्ठासारोद्धार, १ - १७५
१६ जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२, दौवलि शास्त्री श्रवण बेलगुल की प्रति से उद्धृत अश के अनुसार ।
१७. ग्रन्थ प्रशस्ति, पन्ना १५० १८ श्लोक ६९७—६९९

(पृष्ठ 79 का शेष)

२७. सत्वेषुमैत्री गुणिषुप्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥
अमितामति सामायिक पाठ
२८. तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग ॥ पात योग. 2/१
२९ पात योग व्यासभाष्य २/१
३० अर्हत्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि, वस्तून्यनूतमखिलान्ययमेक एव ।
अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्य समग्रमहमेकमनाजुहोमि ॥
३१ समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ पात योग २/२, ३२ वही २/३
३३ अशरणम शुभमनित्य दु खमनात्मानभावस्त्रमि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके ॥

पाठक प्रतिक्रिया

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज—पत्रिका प्रारम्भ से अन्त तक देखी। सम्पादक का प्रयत्न अच्छा है। सब कुछ आगमानुकूल है—आगम से हटकर एक शब्द भी नही।

परम विदुषी माँ कौशल—वाणी का विशाल भण्डार है। जिसमे अनेक विशाल गभीर ग्रथ सचित है। आज के मानव के पास इतना समय कहाँ जो उन सबका पारायण कर सके उस अथाह ज्ञान सागर मे से कुछ उपयोगी रत्न बीनकर सरल भाषा रूप सूत्रो मे गूथ कर घर-घर जन-जन तक पहुचाने का लोकोपकारी कार्य आज की ये पत्रिकाऐ करती हैं। उनमे सार्थक नाम रखने वाली 'णाणसायर' पत्रिका प्राप्त हुई। वास्तव मे यह प्रथम प्रयास है किन्तु है अद्वितीय। इसमे केवल पृष्ठो की सख्या का ही आकलन वा लौकिक सामग्री का ही सकलन नही अपितु पारमार्थिक विषय का सयोजन भी है। मेरी भावना है कि पत्रिका सरल व सहज बुद्धिगम्य शैली मे सत्य की परिभाषा नहीं, बल्कि सत्य की अनुभूति का उपाय दर्शायेगी।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया—बीना (म० प्र०)—'णाणसायर' उत्तम है और सभी प्रकार के पाठको के लिए पठनीय है। "जैसा नाम—वैसा काम"। आपका प्रयत्न स्तुत्य है

प्रो० अक्षय कुमार जैन, इन्दौर—'णाणसायर' का प्रवेशाक मिला। अनुपम, अद्भुत, मौलिक अभिनदनीय। इसे आप विश्व जैन मिशन द्वारा विदेशो मे अवश्य भिजवाये। प्रत्येक जैन पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, लायब्रेरी, शास्त्रागार रात्रि जैन शालायो, आश्रमो मे ऐसी पत्रिका अनिवार्य हो। ऐसा कुछ करे। यदि आचार्य, मुनि, विद्वान, पडित वर्ग इसके स्थायी ग्राहक बन सके तो यह प्रयास जैन धर्म-सस्कृति के पुनरुत्थान मे ही सहायक नही होगा, अपितु नयी पीढी और जैन युवको मे क्रातिदर्शी श्रद्धा और धर्म के प्रति आस्था भी जागृत करेगा। वस्तु-विषय सपादन-सकलन मे आपकी प्रतिभा बेजोड है। मेरी कामना है कि यह प्रयास स्थायी दीर्घजीवी और सर्व सुलभ हो।

डॉ श्रीरजन सूरिदेव, पटना—'णाणसायर' होनहार बिरवान के होत चिकने पात' कहावत को चारितार्थ करता है। यथाकलित सामग्री की गुणात्मकता की दृष्टि से अपने 'ज्ञान सागर' नाम को अन्वर्थ करता है। आज जैन धर्म-दर्शन का व्यावहारिक एव समाजशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है। मेरी आकाक्षा है कि 'णाणसायर' इस दशा मे ऐतिहासिक क्रोशशिला का सस्थापक

वने, ताकि जैन पत्रकारिता जगत् मे इसका सर्वथा स्वतन्त्र और नवीन अभि-ज्ञान स्थापित हो।

डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन, मद्रास— भाई अशोक जी, आप कर्मठ एव चैतन्य सम्पन्न व्यक्ति है, प्रवेशाक से जितनी आशा की जा सकती है, वह घटित हुई है।

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, आगरा—निश्चय ही 'णाणसायर' रिसर्च जनरल है। हमे आशा ही नही, विश्वास भी होता है कि यह पत्रिका अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है और निरन्तर प्रगति के सोपान पर पहुचेगी। सच तो यह है कि जैन साहित्य के क्षेत्र मे जो जागृति दिखाई पडी है, उसके प्रकाशन मे यह पत्रिका महती भूमिका प्रस्तुत करते हुए अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित करेगी।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, जयपुर—'णाणसायर' मे महत्वपूर्ण सूचनाऐ हैं अत सभी जैन अनुशीलन सस्थाए उसका स्वागत करेगी।

डॉ० भागचन्द्र जैन, नागपुर—प्रवेशाक विपय सामग्री और साज-सज्जा दोनो दृष्टियो से उत्तम कोटि का है। आशा है सामाजिक जागरण मे यह पत्रिका अपनी अह भूमिका निभायेगी।

डॉ० अजित शुकदेव शर्मा, शान्ति निकेतन (प बंगाल)—वस्तुत 'णाणसायर' का प्रवेशाक जैन-विद्या के क्षेत्र मे एक नया प्रतिमान बनकर प्रतिष्ठापित हुआ है। इसमे कोई सदेह नही कि इसकी सारी रचनाऐं रेखाकित है और सजग अध्येताओ को सतुष्ट करने मे सक्षम है। रचना की सूक्ष्मता एव गहरे पैठने की प्रवृत्ति न केवल लेखको की पैनी मेघा शक्ति का द्योतक है बल्कि सम्पादक-मडल की सूझ-बूझ तव पारखी-वृत्ति का भी परिचायक है।

डॉ० प्रेमचन्द्र रांवका, महापुरा (जयपुर)—'णाणसायर' अन्य पत्र/पत्रिकाओ से हटकर अपना अलग-अगल ही वैशिष्ट्य और अस्तित्व रखता है। जिसमे हृदय और बुद्धि के तृप्तार्थ विवेकी मनीषियो के आलेखन उपलब्ध हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दर की शुद्ध साहित्य सामग्री से सयुक्त यह 'णाणसायर' प्रत्येक विवेकी पाठक को परितृप्त करेगा। निश्चित ही श्रमण सस्कृति के शाश्वत मूल्यों का अनुशीलन कर पाठको के आत्मोत्थान मे प्रेरणा दीप बनेगा।

श्री लक्ष्मीचद्र 'सरोज', जावरा (म०प्र०)—सभी रचनाऐ सुरुचिपूर्ण, ज्ञान वर्धक, प्रेरणास्पद हैं। उच्चकोटि के लेखको द्वारा लिखे गए विचार-प्रधान निबन्ध अपनी भाषा-शैली का भी कीर्तिमान कायम करेंगे। आपका पत्र शोधार्थियो के लिए अतीव उपयोगी होगा। इसमे कोई सदेह नहीं।

डॉ० आर के चन्द्रा, अहमदाबाद—भगवान महावीर की उपासना और

सभी प्राणियो के प्रति उनकी दया-भावना तथा उनका सापेक्षवाद हम लोगो के जीवन मे उतर सका है क्या ? यदि कोई भी पत्रिका ऐसा कार्य करती है तो वह वदनीय एव प्रशसनीय है। कामना करता हू कि आपकी पत्रिका जन-जन मे मैत्री और प्रेमभाव बढाने का प्रयत्न करेगी ।

प्रा प्रताप कुमार टोलिया, बेंगलोर—वास्तव मे 'णाणसायर' के ज्ञान एव भाषा-साहित्य दोनो के स्तर को देखकर बडी प्रसन्नता हुई । आपकी आद्यात सफलता के लिए प्रार्थना ।

डॉ ए बी दिगे—वारगानगर (कोल्हापुर)—'णाणसायर' के प्रवेशाक मे जो लेख छप गए हैं, वह वहुत ही प्रशसनीय है। आशा है आप जैसे प्रबुद्ध सपादक के हाथो मे 'णाणसायर' बहुत ही रोचक एव मननीय होगा ।

डॉ रतन चन्द्र जैन, भोपाल—जैन सिद्धान्त के विविध पक्षो का शोधपूर्ण विवरण सरल भाषा मे जिज्ञासुओ तक पहुचाने मे पत्रिका महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी—ऐसी आशा है ।

डॉ फूल चन्द्र 'प्रेमी', वाराणसी—वस्तुत 'णाणसायर' जैसी स्तरीय पत्रिका ने प्रवेशाँक से ही जैन पत्र-पत्रिकाओ मे अपना शीर्षस्थ स्थान बना लिया है ।

Dr Vilas A Sangave—Kolhapur

It is very heartening to find selective articles of eminent scholars have been included in the Ist issue The lay-out of the journal and the clear and correct printing of the journal have added considerably to the fine get-up of the journal I hope that articles on diffrent branches of Jainology will be included in the future issues of the journal I also think that it would be better if the concise summeries of Ph D Thesis on Jainology are published in the journal for the benefit of Scholars and new research students On the same lines the brief accounts of activities of various Research Institutes or University Deptts in the field of research studies in Jainology can also be regularly given in the journal I wish the journal every success in its Career

प्रकाशक, मुद्रक अशोक जैन द्वारा बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-53 से प्रकाशित तथा सविता प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित ।